अथ तृतीयोऽध्यायः



कर्मयोग

(भगवत्परायण कर्म)

अर्जुन उवाच।
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे जनार्दन! यदि आप सकाम कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग को श्रेष्ठ समझते है, तो फिर हे केशव! मुझे इस घोर युद्ध मे बलपूर्वक क्यो लगा रहे है?।।१।।

तात्पर्य

अपने अन्तरग सखा अर्जुन को शोक-सागर से मुक्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय में जीव के स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया है।

इसी सन्दर्भ मे 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावनामृत को स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग कहा गया है। कभी-कभी भ्रमवश कृष्णभावनामृत को जड़ता समझ लिया जाता है। इस भ्रान्त धारणा वाला पुरुष तो प्राय कृष्णनाम-कीर्तन के द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने के लिए एकान्तवास भी करने लगता है। परन्तु कृष्णभावना के दर्शन मे भलीभाँति शिक्षित हुए बिना एकान्त मे भगवन्नाम-जप करना उचित नही है। ऐसा करने से अबोध जनता की तुच्छ अर्चना ही मिलेगी। अर्जुन भी कृष्णभावनामृत अथवा 'बुद्धियोग' का तात्पर्य यही समझा कि क्रियाशील जीवन से सन्यास ग्रहण कर एकान्त में तप-त्याग करना चाहिए। वस्तुत कृष्णभावनामृत को हेतु बनाकर वह चतुरतापूर्वक युद्ध से उपरत हो जाना चाहता था। तथापि, निष्कपट शिष्य के रूप मे उसने इस विषय को अपने गुरु श्रीकृष्ण के आगे रख दिया और अपने श्रेय-साधन के सम्बन्ध मे उनसे जिज्ञासा की। उत्तरस्वरूप, भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के तृतीय अध्याय मे 'कर्मयोग' अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म की विस्तृत व्याख्या की है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

अनुवाद

आपके अनिश्चित (दुविधापूर्ण) उपदेश से मेरी बुद्धि मोहित सी हो रही है। अतएव निश्चयपूर्वक वह एक साधन कहिये, जिससे मेरा कल्याण हो सके।।२।।

तात्पर्य

पूर्ववर्ती अध्याय मे भगवद्गीता के उपक्रम के रूप मे सांख्ययोग, बुद्धियोग , इन्द्रियनिग्रह, निष्काम कर्मयोग, साधक की स्थिति आदि का वर्णन आया है। परन्तु इन सब तत्त्वो का विवेचन व्यवस्थित रूप में नहीं किया गया। कल्याण-मार्ग के ज्ञान और उसके अनुसार कर्म करने के लिए अधिक सुनियोजित दिग्दर्शन अपेक्षित है। अतएव अर्जुन इन परस्पर सम्भ्रामक लगते तत्त्वो का स्पष्टीकरण चाहता है, जिससे साधारण मनुष्य भी उन्हे यथार्थ रूप मे ग्रहण कर सके। यद्यपि श्रीकृष्ण का ऐसा कोई प्रयोजन नही था कि वे अर्जुन को वाग्चातुरी से मोहित करते, परन्तु अर्जुन यह नही समझ सका कि कृष्णभावना की पद्धति वास्तव मे क्या है—जड़ता (निष्क्रियता) अथवा सक्रिय भगवत्सेवा। इस प्रकार अपनी जिज्ञासा के माध्यम से अर्जुन उन सब जिज्ञासुओ के लिए कृष्णभावनामृत का पथ प्रशस्त कर रहा है, जो यथार्थ रूप में भगवद्गीता के रहस्य को धारण करने के अभिलाषी है।

श्रीभगवानुवाच।
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे निष्पाप अर्जुन! मैं पहले कह चुका हूँ कि स्वरूप-साक्षात्कार करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते है। उनमें से कुछ तो श्रीभगवान् को जानने के लिए सांख्ययोग में प्रवृत्त रहते हैं, जबकि दूसरे भक्तियोग से उनका ज्ञान प्राप्त करते है।।३।।

तात्पर्य

द्वितीय अध्याय के उनतालिसवें श्लोक में श्रीभगवान् ने 'सांख्ययोग' तथा 'कर्मयोग' अथवा 'बुद्धियोग'—इन दोनों पद्धतियों का उल्लेख किया है। इस श्लोक मे वे उसी का अधिक विशद वर्णन कर रहे है। मनोधर्म तथा अनुभवसिद्ध ज्ञान-दर्शन मे प्रवृत्त हुए व्यक्तियों के लिए सांख्ययोग उपयुक्त है। दूसरे प्रकार के मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्म करते हैं, जैसा द्वितीय अध्याय के इकसठवे श्लोक मे कहा है। उनतालिसवे श्लोक में श्रीभगवान् ने यह भी कहा है कि 'बुद्धियोग' अथवा कृष्णभावना के अनुसार कर्म करने से कर्मबन्धन मे मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, इस पद्धति में कोई प्रत्यवाय रूप दोष भी नही होता। ६१ वे श्लोक मे इसी सिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है—बुद्धियोग का अर्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण की पूर्ण आश्रयता ग्रहण करना है। इस विधि से अनायास ही इन्द्रियदमन भी हो जाता है। अत धर्म तथा दर्शन के रूप में दोनो योग अन्योन्याश्रित है। दर्शन-विहीन धर्म भावुकतामात्र है, जो कदाचित् धर्मान्धता में भी परिणत हो जाता है। दूसरी ओर, जो दर्शन धर्म से युक्त न हो, वह वस्तुत मनोधर्म है। श्रीकृष्ण सभी के ऐकान्तिक लक्ष्य है, क्योंकि जो परतत्त्व के यथार्थ जिज्ञासु हैं वे सब दार्शनिक अन्त मे कृष्णभावनाभावित हो जाते है। भगवद्गीता में यह भी प्रतिपादित है। परमात्मा के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेना इस सम्पूर्ण पद्धति का सार है। मनोधर्म का मार्ग सीधा नही है, क्योंकि उसके द्वारा कृष्णभावनामृत की प्राप्ति शनै-शनै ही हो सकती है। परन्तु कृष्णभावना के द्वारा श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष रूप मे कृष्णभावना का मार्ग अधिक उत्तम है क्योंकि वह किसी दार्शनिक पद्धति के द्वारा इन्द्रिय-शुद्धि करने पर निर्भर नहीं करता। कृष्णभावनामृत का पथ स्वयं शुद्धिकारक है तथा भगवद्भक्ति की सीधी पद्धति से युक्त होने के कारण से सुगम भी है और उदात्त भी।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अनुवाद

केवल कर्म न करने से ही कर्मबन्धन से मुक्ति नही हो जाती और न ही केवल संन्यास से कृतार्थता होती है।।४।।

तात्पर्य

विषयी मनुष्यों के हृदय को शुद्ध करने के लिए जिन स्वधर्मरूप कर्मों का विधान किया गया है, उनके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे। शुद्धिकरण के बिना अकस्मात् संन्यासाश्रम ग्रहण कर लेने से कल्याण नही होता। ज्ञानी दार्शनिको के अनुसार सन्यास ग्रहण करने, अर्थात् सकाम कर्मों का निवर्तन कर देने मात्र से नारायणत्व की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण इस मत का अनुमोदन नही करते। हृदय-शुद्धि से पूर्व लिया गया सन्यास सामाजिक व्यवस्था मे उत्पातकारी ही सिद्ध होता है। दूसरी ओर, यदि कोई स्वधर्म की उपेक्षापूर्वक भगवद्भक्ति में तत्पर हो जाय तो उस दिशा मे वह जो कुछ भी साधन (बुद्धियोग) करता है, प्रभु उसे सोल्लास स्वीकार कर लेते हैं। **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**— 'इस धम का अल्प सा साधन भी महान् भय से रक्षा कर लेता है।'

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

अनुवाद

सब मनुष्य प्रकृति के गुणो की प्रेरणा के अनुसार परवश हुए कर्म करते है। इसलिए कोई भी क्षणमात्र के लिए भी कर्म किए बिना नही रह सकता।।५।।

तात्पर्य

आत्मा की सक्रियता का बद्ध जीवन से कोई सम्बन्ध नही, वह तो स्वभाव से ही नित्य क्रियाशील है। आत्मा की उपस्थिति के बिना प्राकृत कलेवर कुछ भी चेष्टा नही कर सकता। देह तो एक चेतनाशून्य वाहनमात्र है, जिसे नित्य क्रियाशील आत्मा क्रियान्वित रखता है। अतएव आत्मा के लिए कृष्णभावनाभावित सत्कर्मो क परायण होना आवश्यक है, अन्यथा वह माया द्वारा निर्दिष्ट कार्यों में व्यस्त हो जायगा। माया के संसर्गवश दिव्य होने पर भी आत्मा प्राकृत गुणो को ग्रहण कर लेता है। इस दुराग के दुष्प्रभाव से आत्मा को शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शास्त्र-विहित स्वधर्म का आचरण किया जाय। परन्तु यदि आत्मा अपने स्वरूपभूत

कर्म—कृष्णभावना मे ही तत्पर है, तो वह जो कुछ भी करता है, वह उसके कल्याण के लिए पर्याप्त है। श्रीमद्भागवत से सिद्ध है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।

'कृष्णभावना को अंगीकार करके जो मनुष्य शास्त्र के अनुसार स्वधर्म-पालन तो नही करता, परन्तु साथ मे, भक्तियोग का भी भलीभाँति सम्पादन नही कर पाता, वह यदि पतित भी हो जाय, तो भी उसकी हानि नही होगी। इसके विपरीत यदि आत्मशुद्धि के लिए शास्त्रीय-विधान का पालन किया जाय, तो भी कृष्णभावना के अभाव मे उस सबसे क्या लाभ?' (श्रीमद्भागवत १ ५ १७)

अतएव शुद्धि कर्मों की सार्थकता इसी मे है कि कृष्णभावना की प्राप्ति हो जाय। इस प्रकार सिद्ध होता है कि सन्यास आदि सब शुद्धि की पद्धतियो का चरम लक्ष्य कृष्णभावनाभावित होने मे सहायता प्रदान करना है, जिसके बिना सम्पूर्ण उद्यम विफल हो जाते है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

अनुवाद

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियो का हठ से दमन करके मन से इन्द्रिय-विषयो का चिन्तन करता है, वह निस्सन्देह अपने को भ्रम में डालता है और मिथ्याचारी कहलाता है।।६।।

तात्पर्य

ऐसे अनेक कपटी है, जो कृष्णभावनाभावित कर्म नही करते, वरन् ध्यान का पाखण्ड करते हुए चित्त द्वारा विषय-चिन्तन मे ही तन्मय रहते है। भ्रान्त अनुयायियो को छलने के लिए वे नीरस दर्शन पर भी प्रवचन किया करते है। परन्तु इस श्लोक के अनुसार इन्हें परम धूर्त ही जानना चाहिए। इन्द्रियतृप्ति के लिए समाज मे कोई भी कपट-रूप धारण कर लेना बड़ा सरल है, परन्तु यदि स्वधर्म का पालन किया जाय, तो क्रमशः आत्मशुद्धि हो सकती है। इसके विपरीत, अपने को 'योगी' बताता हुए भी जो इन्द्रियतृप्ति-दायक भोगो का अन्वेषण किया करता है वह चाहे कभी-कभी दर्शन पर प्रवचन भी क्यो न करे, उसे परम धूर्त ही जानना चाहिए। उसके मिथ्या ज्ञान का कुछ भी मूल्य नहीं, श्रीभगवान् की मायाशक्ति ऐसे पापाचारी के ज्ञान की सम्पूर्ण गरिमा को हर लेती है। मिथ्याचारी का चित्त नित्य मलिन रहता है। अतः

उसका यौगिक-ध्यान का ढोंग कुछ भी महत्त्व नहीं रखता।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अनुवाद

दूसरी ओर, जो मनुष्य मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा भक्तिभावित कर्म करता है, वह अति श्रेष्ठ है।।७।।

तात्पर्य

लम्पट जीवन और इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से ध्यानयोगी का मिथ्या वेष धारण करने के स्थान पर स्वधर्म का पालन करते हुए जीवन के लक्ष्य—भवबन्धन से छूट कर भगवद्धाम को प्राप्त करने के लिए साधन करना कहीं उत्तम है। श्रीविष्णु की प्राप्ति ही परम स्वार्थ-गति है। सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म का उद्देश्य जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करना है। कृष्णभावनाभावित नियमित सेवा करने से गृहस्थी भी इस गति को प्राप्त हो सकता है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए शास्त्र के अनुसार संयमित जीवन यापन करते हुए अनासक्त भाव से स्वधर्माचरण करने पर परमार्थ सुलभ हो जाता है। अतएव जो पुरुष निष्कपट भाव से इस विधि का अनुगमन करता है, वह उस मिथ्याचारी से अति श्रेष्ठ है जो अबोध जनता को ठगने के उद्देश्य से कृत्रिम आध्यात्मिकता धारण किए रहता है। जीविका के लिए ध्यान लगाने वाले प्रवचक ध्यानी से तो निश्छल झाड़ू लगाने वाला भी अच्छा है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अनुवाद

इसलिए तू स्वधर्म रूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।।८।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।९।।

अनुवाद

श्रीविष्णु के लिए यज्ञरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा कर्म से इस

प्राकृत-जगत् में बन्धन होता है। इसलिए हे अर्जुन! श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए कर्म का आचरण कर। इस प्रकार करने से तू नित्य अनासक्त तथा बन्धनमुक्त रहेगा।।९।।

तात्पर्य

केवल शरीर धारण करने के लिए भी कर्म की आवश्यकता को देखते हुए विभिन्न वर्णाश्रमों के लिए स्वधर्मरूप कर्म का विधान किया गया है जिससे उस प्रयोजन की पूर्ति हो सके। **यज्ञ** शब्द भगवान् विष्णु का भी वाचक है। सब यज्ञो का लक्ष्य श्रीविष्णु को प्रसन्न करना है। वेद की वाणी—**यज्ञो वै विष्णुः**, अर्थात् यज्ञ एव विष्णुभक्ति का लक्ष्य एक ही है। अतएव इस श्लोक से सिद्ध होता है कि कृष्णभावनामृत यज्ञ है। श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिए वर्णाश्रम धर्म का भी यही लक्ष्य है। **वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् विष्णुराराध्यते।** (विष्णु पुराण ३.८.८) अतएव श्रीविष्णु के सन्तोष के लिए कर्म करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, अन्य सब कर्म बन्धनकारक सिद्ध होंगे, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्मों का अपना-अपना फल होता है, जो कर्ता के लिए बन्धनकारी है। अत: श्रीकृष्ण (विष्णु) की प्रीति के लिए कृष्णभावनाभावित कर्म ही करे। इस कोटि के कर्म करने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। यही महान् कर्म-कौशल है। प्रारम्भिक अवस्था मे इस पद्धति के लिए अतिशय कुशल परामर्श अपेक्षित रहता है। इसलिए कृष्णभक्त अथवा जिनके आश्रय मे अर्जुन को कर्म करने का सुअवसर प्राप्त हुआ—उन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रत्यक्ष आदेश के अनुसार सोत्साह कर्म करे। इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई भी क्रिया न करे, सब कर्म श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ ही हो। इस अभ्यास के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्ति ही नही होगी, वरन् उस भगवद्भक्ति की प्राप्ति भी होगी, जो भगवद्धाम मे प्रवेश करने का ऐकान्तिक पथ है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

अनुवाद

सृष्टि के आदि में प्रजापति ने श्रीविष्णु के लिए लक्ष्य वाले यज्ञ के साथ मनुष्यो और देवताओ को रचकर उन्हे यह आशीर्वाद दिया, 'इस यज्ञ द्वारा सुखोपभोग करो, इसके करने से तुम्हे सब वाँछित पदार्थों की प्राप्ति होगी'।।१०।।

तात्पर्य

प्रजापति (विष्णु) ने इस प्राकृत सृष्टि की रचना करके बद्धजीवों को अपने

यथार्थ घर—भगवद्धाम को लौटने का सुअवसर प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध को भुला देने के कारण जगत् के सब जीव माया में बँधे हुए है। इस शाश्वत् सम्बन्ध को जानने मे हमारी सहायता करना वेदो का लक्ष्य है। जैसा गीता में कहा है, **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।** भगवान् की श्रीमुख वाणी है कि उन्हें जानना ही वेदों का लक्ष्य है। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि **पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्।** अस्तु, भगवान् श्रीविष्णु प्रजापति हैं। श्रीमद्भागवत (२.४ २०) में भी श्रीशुकदेव गोस्वामी ने उन्हे नाना रूपो में 'पति' अर्थात् स्वामी कहा है—

श्रियःपतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चांधकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः।।

भगवान् विष्णु प्रजापति हैं, वे ही सब जीवों, सब लोको तथा श्री के पति एव सर्व-सरक्षक है। उन्होने इस प्राकृत-जगत् की रचना इसलिए की है जिससे बद्धजीवो को उन की प्रीति के लिए यज्ञ करने की शिक्षा मिल जाय। इससे वे ससार मे त्रितापदग्ध हुए बिना सुखपूर्वक रह सकेंगे और देहान्त हो जाने पर भगवद्धाम में प्रविष्ट हो जायेंगे। यह मायाबद्ध जीव के लिए भगवान् की पूरी योजना है। यज्ञ के द्वारा बद्धजीव उत्तरोत्तर कृष्णभावनाभावित होकर सब प्रकार से देवोपम बन जाते है। वर्तमान कलियुग के युगधर्म के रूप में वेदो मे 'सकीर्तन यज्ञ' का विधान है। अतएव इस युग के सब जीवो का उद्धार करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस अलौकिक पद्धति का प्रवर्तन किया। वस्तुत. सकीर्तन यज्ञ और कृष्णभावना का युगल बडा सुन्दर है। श्रीमद्भागवत में सकीर्तनयज्ञ के विशिष्ट सन्दर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तरूप (श्रीचैतन्य महाप्रभु) का वर्णन है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपांगास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।

"कलियुग मे यथार्थ बुद्धिमान् मनुष्य सकीर्तनयज्ञ के द्वारा पार्षदो सहित भगवान् श्रीगौरहरि की आराधना करते है।" (श्रीमद्भागवत ११ ५.२९) इस कलियुग में अन्य किसी वैदिक यज्ञ का सपादन सम्भव नही रहा है। परन्तु सकीर्तनयज्ञ तो आज भी सर्वभीष्ट-सिद्धि के लिए अतिशय सुगम और प्रभविष्णु (उदात्त) है।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

अनुवाद

यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता तुम्हें भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे के पोषण से सर्वत्र सबके लिए समृद्धि हो जायगी।।११।।

तात्पर्य

देवता संसार के शक्ति-निक्षिप्त प्रशासक हैं। जीवमात्र को देह धारण करने के लिए वायु, जल, प्रकाशादि तत्त्वों की आवश्यकता है। इनकी आपूर्ति का उत्तरदायित्व देवताओं पर है। ये असंख्य देवता विराट् भगवत् विग्रह के अंग-प्रत्यंग में अवस्थित भगवत्सेवक हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्य के यज्ञ करने पर निर्भर है। यद्यपि कुछ यज्ञ विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, तथापि सभी यज्ञों में मुख्य भोक्ता के रूप में भगवान् विष्णु की ही आराधना सम्पन्न होती है। स्वयं भगवद्गीता में कहा है कि स्वयं श्रीकृष्ण सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता है—**भोक्तारं यज्ञ तपसाम्**। अतएव अन्त में 'यज्ञपति' का सन्तोष सब 'यज्ञों' का मुख्य प्रयोजन है। इन यज्ञों का भलीभाँति संपादन होने पर विविध सभरण विभागों के अध्यक्ष देवता अपने-आप प्रसन्न हो जाते हैं; फिर किसी भी प्राकृतिक पदार्थ का अभाव नहीं रहता।

यज्ञों के ऐसे अनेक आनुषंगिक लाभ भी हैं, जिनसे अन्त में बन्धनमुक्ति हो जाती है। वेदानुसार, यजन से सब क्रियाओं का परिष्कार होता है—

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ।
ध्रुवाः स्मृतिः स्मृति-लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।।

यजन द्वारा आहार शुद्ध हो जाता है तथा आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है। सत्त्व-शुद्धि से स्मृति के सूक्ष्म भावों की शुद्धि होती है, जिससे मुक्ति-पथ के चिन्तन की योग्यता प्राप्त हो जाती है। इस समग्र पद्धति से कृष्णभावना उद्भावित हो उठती है, जो वर्तमान विश्व की महती आवश्यकता है।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

अनुवाद

नाना प्रकार के जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकारी देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर मानव की सब आवश्यकताओं को पूर्ण कर देते हैं। इसलिए जो पुरुष उनके द्वारा दिये गये भोगों को उन्हें पुनः अर्पण किये बिना भोगता है, वह निश्चित चोर है।।१२।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

अनुवाद

यज्ञ से बचे अन्न का भोजन करने वाले भगवद्भक्त सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। पर जो इन्द्रियतृप्ति के लिए भोजन बनाते हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।।१३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अनुवाद

सब प्राणी अन्न से जीवन धारण करते हैं और अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है तथा यज्ञ स्वधर्म से प्रकट है।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अनुवाद

स्वधर्म रूप कर्मों का विधान वेदो मे है तथा वेद साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से प्रकट हुए है। इसलिए सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञ मे नित्य प्रतिष्ठित है।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **यज्ञार्थकर्म** अथवा श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करने की महिमा का अधिक स्पष्ट वर्णन है। यज्ञपुरुष श्रीविष्णु के सन्तोष हेतु कर्म करने के लिए हमें ब्रह्म' अर्थात् अपौरुषेय वेदों से कर्म विधान जानना होगा, क्योंकि वेद ही कर्म-विधि की संहिता हैं। वेदाज्ञा के बिना सम्पादित क्रिया को 'विकर्म' अथवा पाप कहते हैं। अतएव कर्मबन्धन मुक्ति के लिए वेद-निर्देश सदा ग्रहणीय हैं। जिस प्रकार साधारण जीवन में राज के नियमानुसार कर्म किया जाता है; उसी भाँति, श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार ही कर्म करना है। ये वैदिक-विधान स्वय श्रीभगवान् के नि:श्वास से प्रकट हुए हैं। प्रसिद्ध कथन है: **अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः साम वेदोऽथर्वांगिरसः।** 'ऋक्', 'साम', 'यजुः' और 'अथर्व'—ये चारों वेद श्रीभगवान् के निःश्वास सहित प्रकट हुए हैं। सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् निःश्वास द्वारा भी बोल सकते हैं। ब्रह्मसंहिता से प्रमाणित है कि श्रीभगवान् अपने किसी भी अंग से अन्य सब अगों की क्रिया करने की सामर्थ्य रखते है, अर्थात् वे

अपने निःश्वास से प्रवचन तथा दृष्टिमात्र से गर्भाधान कर सकते हैं। वास्तव मे कहा जाता है कि उन्होंने माया पर दृष्टिनिपात करके उसमें सब जीवों का गर्भाधान किया और इसके अनन्तर वैदिक ज्ञान के रूप में बद्धजीवो के लिए भगवद्धाम के मार्ग का निर्देश किया। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि मायाबद्ध जीव इन्द्रियतृप्ति के लिए आतुर हैं। परन्तु वैदिक निर्देश इस विधि से निर्मित हैं कि अपनी विकृत कामनाओं की पूर्ति से मिलने वाले मिथ्या आनन्द को भोगकर जीव अन्त में भगवद्धाम को फिर प्राप्त हो जाय। इस प्रकार बद्ध जीवो को मुक्ति का सुअवसर दिया गया है। अत· बद्धजीव को यज्ञक्रिया का अभ्यास करने के लिए कृष्णभावनाभावित हो जाना चाहिए। जो वैदिक-विधान का पालन नहीं कर सकते, वे मनुष्य भी कृष्णभावना को अंगीकार कर सकते हैं। कृष्णभावना से सम्पूर्ण वैदिक यज्ञकर्मों का प्रयोजन सिद्ध हो जायगा।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! जो मनुष्य वेद की इस यज्ञ-व्यवस्था का अनुसरण नही करता, उसका जीवन निस्सन्देह पापमय है, क्योंकि जो इन्द्रियतृप्ति के परायण रहता है वह व्यर्थ ही जीता है।।१६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने धन को ही सब कुछ मानने वाली उस विचारधारा का तिरस्कार किया है, जिसके अनुसार कठोर परिश्रम के द्वारा इन्द्रियतृप्ति में रमण करना उत्तम समझा जाता है। अतएव जो इस प्राकृत-जगत् को भोगना चाहते हैं, उनके लिए ही पूर्वोक्त यज्ञचक्र का अनुसरण करना सर्वथा आवश्यक है। इस विधान की अवज्ञा करने वाला महान् विपत्ति को आमन्त्रित कर रहा है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर अधिक पाप से लिप्त होता जाता है। प्रकृति के नियमानुसार यह मानव शरीर विशेष रूप से स्वरूप-साक्षात्कार के लिए मिलता है। इसके तीन मार्ग हैं—'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। पाप-पुण्य से मुक्त हुए योगियो के लिए यज्ञादि-विधान का दृढ अनुसरण आवश्यक नही रहता। परन्तु जो इन्द्रियतृप्ति के परायण है, उनके लिए पूर्वोक्त यज्ञचक्र के साधन से आत्मशुद्धि करना अनिवार्य है। कर्म के अनेक अवान्तर भेद है। जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वे निश्चय ही विषय-परायण हैं। अत उनके लिए पुण्यकर्मों का सम्पादन आवश्यक है। यज्ञ व्यवस्था इस प्रकार

सुनियोजित है कि विषयी लोग इच्छा-पूर्ति करते हुए भी इन्द्रिय-तृप्तिजनित बन्धन में न पड़ें। विश्व की समृद्धि हमारे प्रयत्न पर नहीं, अपितु देवताओं द्वारा सम्पादित श्रीभगवान् की पूर्व व्यवस्था पर निर्भर है। इसीलिए वेदों में विभिन्न यज्ञों का भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए विधान है। परोक्ष रूप से यह भी कृष्णभावनामृत का ही अभ्यास है क्योंकि यज्ञवित् यथासमय कृष्णभावनाभावित हो जायगा, यह निश्चित है। परन्तु यदि यज्ञों का अनुष्ठाता कृष्णभावनाभावित न हो पाये, तो यह सिद्धान्त नैतिक आचार मात्र रह जाता है। अतः अपनी प्रगति को नैतिक आचार तक ही सीमित न रखते हुए, उसका उल्लंघन करके कृष्णभावनामृत की प्राप्ति करनी चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

अनुवाद

परन्तु जो पुरुष आत्मा में ही आनन्द का अनुभव करता है, जो आत्मप्रकाश से युक्त है और जो आत्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।।१७।।

तात्पर्य

जो पूर्णतया कृष्णभावनाभावित है और अपने कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्ण सन्तोष का अनुभव करता है, उस पुरुष के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। कृष्णभावना मे तन्मयता के कारण उसके हृदयगत मल का तत्काल शोधन हो जाता है। ऐसी अन्तर्शुद्धी वस्तुतः हजारों यज्ञों का फल है। इस प्रकार मति का शोधन हो जाने पर श्रीभगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध में पूर्ण आस्था का उदय हो जाता है। भगवत्कृपा से कर्तव्य स्वय प्रकाशित हो जाता है, जिससे वेद-विधान के प्रति कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। ऐसे कृष्णभावनाभावित महज्जन की सांसारिक कर्मों में लेशमात्र रुचि शेष नहीं रहती और न ही मदिरा, कामिनी आदि मोहांधताओं में उसे आनन्द की अनुभूति होती है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

अनुवाद

स्वरूपज्ञानी महानुभाव के लिए स्वधर्म के आचरण में कोई स्वार्थ नहीं रहता, और कर्म न करने का भी उसके लिए कोई कारण नहीं होता। किसी अन्य प्राणी की

आश्रयता भी उसे अपेक्षित नही रहती।।१८।।

तस्मादसक्त : सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

अनुवाद

इसलिए कर्मफल मे अनासक्त भाव से कर्तव्य की भाँति कर्म करना चाहिए क्योकि अनासक्त होकर कर्म परम लक्ष्य की प्राप्ति कराने वाला है।।१९।।

तात्पर्य

भक्तों के लिए 'परमलक्ष्य' भगवान् श्रीकृष्ण हैं तथा निर्विशेषवादियो के लिए मुक्ति है। अतएव जो पुरुष सद्गुरु के मार्गदर्शन मे फलासक्ति के बिना श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए, अर्थात् कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह जीवन के परमलक्ष्य की दिशा में निस्सन्देह प्रगति करता है। अर्जुन से कुरुक्षेत्र मे श्रीकृष्ण के प्रीत्यर्थ युद्ध करने को कहा गया है, क्योंकि श्रीकृष्ण की ऐसी ही इच्छा है। पुण्यात्मा अथवा अहिंसक होना भी एक प्रकार की वैयक्तिक आसक्ति है। वस्तुत भगवान् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करना ही फलासक्ति से रहित कर्मयोग है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी को परमोच्च कर्मसिद्धि कहा है। नियत यज्ञों के समान वैदिककर्म भी इन्द्रियतृप्ति में बने पापो की निवृत्ति के लिए किये जाते है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सब प्रकार के शुभ-अशुभ फल मे मुक्त है। कृष्णभावनाभावित भक्त में लेशमात्र भी फलासक्ति नहीं रहती, वह तो बस श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्म करता है। अतएव सब प्रकार के कर्म करते रहने पर भी वह सर्वथा अनासक्त है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

अनुवाद

जनक आदि राजा भी कर्म द्वारा ही ससिद्धि को प्राप्त हुए है। इसलिए लोकसग्रह के उद्देश्य से भी तू स्वधर्म रूप कर्म को करने के ही योग्य है।।२०।।

तात्पर्य

जनक आदि राजर्षि आत्मज्ञानी थे। इसलिए उनके लिए वैदिक कर्म का आचरण आवश्यक कर्तव्य नहीं था। तथापि लोकशिक्षा के लिए उन्होंने सब नियत कर्मों का भलीभाँति आचरण किया। जनक श्रीसीताजी के पिता और भगवान् श्रीराम के श्वसुर थे। महाभागवत होने से उनकी स्थिति लोकोत्तर थी, फिर भी मिथिला के

अधिपति के रूप में वे अपनी प्रजा को धर्मयुद्ध की शिक्षा देते थे। वे और उनके प्रजाजन जनसाधारण को इस बात की शिक्षा प्रदान करने के लिए युद्ध करते थे कि सद्परामर्श के विफल हो जाने पर कभी-कभी हिंसा भी आवश्यक हो जाती है। कुरुक्षेत्र-युद्ध से पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं युद्ध के निवारणार्थ अशेष उद्योग किया, किन्तु विपक्ष युद्ध के लिए सब प्रकार से कृतसकल्प था। अत ऐसे धर्ममय उद्देश्य के लिए युद्ध आवश्यक है। यद्यपि कृष्णभावनाभावित पुरुष के लिए ससार लेशमात्र भी रुचिकर नही रहता, तब भी जनता को जीवन-यापन तथा कर्म करने की शिक्षा देने के लिए वह कर्म करता है। जैसा अगले श्लोक मे कहा गया है, कृष्णभावना का मर्मज्ञ पुरुष अपने कार्य-कलाप के द्वारा ऐसा आदर्श स्थापित करता है जिसका अन्य मनुष्य अनुसरण कर सके।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

अनुवाद

महापुरुष जो-जो आचरण करता है, साधारण मनुष्य उसका अनुसरण करते है। वह पुरुष अपने विलक्षण कर्मों से जो आदर्श स्थापित कर देता है, सम्पूर्ण विश्व उसके अनुसार कार्य करता है।।२१।।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

अनुवाद

हे पार्थ! त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नही है; न तो मुझे किसी पदार्थ का अभाव है और न आवश्यकता ही है। फिर भी मैं कर्म में ही तत्पर हूँ।।२२।।

तात्पर्य

वेदों में श्रीभगवान् का यह वर्णन है:

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

'परमेश्वर श्रीकृष्ण सब ईश्वरों के परम महेश्वर एवं सभी देवताओं के परमोच्च देव हैं। सभी उनके आधीन हैं। जीवात्मा स्वयं परतत्त्व नहीं है, परन् उनकी विशिष्ट शक्ति के स्रोत श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण देवताओं के आराध्य तथा समस्त नियन्ताओं के भी नियन्ता हैं। अतएव जगत् के लोकनायकों और ईश्वरों से अतीत होने के कारण वे सर्ववन्दनीय हैं। उनसे अधिक कोई नहीं है, वे ही सब कारणों के परम कारण हैं।'

'भगवान् का श्रीविग्रह साधारण जीवात्मा के देह के समान नहीं है। उनके देह एवं आत्मा में भेद नहीं है, क्योंकि वे अद्वय-तत्त्व हैं। प्रभु की सब इन्द्रियाँ भी चिन्मय हैं। इसीलिए उनकी प्रत्येक इन्द्रिय अन्य सब इन्द्रियों का कार्य कर सकती है। अतः उनके समान अथवा उनसे अधिक कोई नही हो सकता। वे विविध शक्तियों से युक्त हैं एवं उनकी लीला स्वाभाविक क्रमानुसार अपने-आप सम्पादित होती है।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.७-८)

श्रीभगवान् में सम्पूर्ण ऐश्वर्य यथार्थत. परिपूर्णतम रूप मे प्रकाशित रहते हैं। अत. उनके लिए कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य का विधान फलेप्सु के लिए ही है। जिसके लिए त्रिभुवन में कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, उसके लिए निस्सन्देह कुछ भी कर्तव्य नहीं हो सकता। फिर भी, क्षत्रियनायक होने के नाते भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र युद्ध में तत्पर हैं, क्योंकि आर्त को आश्रय देना क्षत्रिय का प्रधान धर्म है। शास्त्राज्ञा से सर्वथा परे होने पर भी श्रीभगवान् शास्त्र-विरुद्ध आचरण कभी नहीं करते।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

अनुवाद

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ, तो हे पार्थ ! सब मनुष्य मेरे पथ का ही अनुगमन करेंगे।।२३।।

तात्पर्य

पारमार्थिक उन्नति के लिए आवश्यक सामाजिक शान्ति बनाए रखने के हेतु ऐसे अनेक परम्परागत कुलाचार हैं, जिनका सभी सभ्य मनुष्यों को पालन करना चाहिए। ये विधि-विधान वस्तुतः मायाबद्ध जीवों के लिए ही हैं, श्रीकृष्ण के लिए नहीं। परन्तु धर्म की स्थापना के लिए अवतरित होने पर उन्होंने इन सभी नियमों का पालन किया। अन्यथा, साधारण मनुष्य भी उनका अनुकरण करते हुए कर्म का त्याग कर देते, क्योंकि वे परमप्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अपने घर में और

बाहर भी गृहस्थोचित धर्म का पूर्ण रूप से आचरण करते थे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

अनुवाद

यदि मै कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जायँ और मै वर्णसंकर का कारण बनकर सम्पूर्ण प्राणियों की शान्ति का विनाशक बनूँ।।२४।।

तात्पर्य

वर्णसकर सामाजिक शान्ति में विघ्न उपस्थित करते है। इस सामाजिक उपद्रव के निवारणार्थ ऐसे विधि-नियमो का विधान है, जिनमे जनता स्वत शांति तथा परमार्थ के लिए व्यवस्थित हो सके। जब भगवान् श्रीकृष्ण अवतरित होते है तो इन महत्त्वपूर्ण कर्मों की गरिमा और महिमा को बनाए रखने के लिए वे स्वय भी इनका पालन करते हैं। प्रभु सब जीवो के पिता है, इसलिए यदि जीव पथभ्रान्त हो जाय तो इसका दायित्व एक प्रकार से उन्ही पर है। अतएव जब-जब समाज मे व्यापक रूप से धर्म की उपेक्षा होने लगती है, तब-तब श्रीभगवान् स्वय अवतरित होकर समाज-सुधार करते है। परन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि हमे श्रीभगवान् के चरणचिह्नों का अनुसरण ही करना है, उनका अनुकरण करने मे हम बिल्कुल असमर्थ है। 'अनुसरण' तथा अनुकरण' मे गम्भीर भेद है। भगवान् श्रीकृष्ण की गोवर्धन-धारण लीला का हम अनुकरण नहीं कर सकते। मानव के लिए यह करना असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि उनकी अतिमानवीय लीला का कदापि अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का नित्य अनुसरण करना चाहिए। श्रीमद्भागवत मे कहा है·

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्।।
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्।।

''श्रीभगवान् एवं उनके शक्ति-निक्षिप्त सेवकों की शिक्षा ही आशरणीय है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा हमारे लिए कल्याणकारी है। अत बुद्धिमान् निस्सन्देह उसका यथारूप पालन करता है, पर उनके समान आचरण करने का प्रयत्न कभी न करे। शिव के समान विषसागर पीने का प्रयास कोई न करे।'' (श्रीमद्भागवत १०.३३.३१-३२)

यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जो प्रभाकर-भास्कर की गति के भी नियन्ता हैं, उन ईश्वरों की स्थिति हमसे कहीं श्रेष्ठ है। ईश्वरशक्ति के अभाव मे सर्वशक्तिमान् ईश्वरों के समान आचरण कोई नहीं कर सकता। भगवान् शिव सागर के परिमाण में विष का पान कर गए, जबकि यदि कोई साधारण मनुष्य उस विष के विन्दु-मात्र को भी पीने का प्रयत्न करे तो वह तत्क्षण मृत्यु का ग्रास हो जाय। भगवान् शिव के अनेक कपटी भक्त उनका अनुकरण करते हुए गांजा आदि मादक द्रव्यों के सेवन के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि भगवान् शिव का इस प्रकार अनुकरण करके वे स्वयं अपनी मृत्यु के कारण बन रहे हैं। इसी भाँति, भगवान् श्रीकृष्ण के भी ऐसे अनेक कपटी भक्त हैं, जो उनके समान रासलीला तो करना चाहते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि उन्ही भगवान् श्रीकृष्ण ने गोवर्धन-धारण भी किया था, जो उनकी शक्ति से बाहर की बात है। अतएव ईश्वरों के आचरण का अनुकरण न करते हुए उनकी शिक्षा का अनुसरण करना ही परम श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त, पर्याप्त योग्यता के बिना उनके स्थान को ग्रहण करने का दुस्साहस नहीं करना चाहिये। तथापि, वर्तमान समय में ऐसे अनेक 'भगवत्-अवतार' प्रचलित हैं, जिनमें भगवत्-शक्ति का सर्वथा अभाव है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

अनुवाद

जिस प्रकार फल में आसक्त अज्ञानी कर्म करते हैं, वैसे ज्ञानी भी अनासक्त भाव से लोक-शिक्षा के लिये कर्म करे।।२५।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

अनुवाद

ज्ञानी पुरुष सकाम कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, अर्थात् उन्हें कर्म से विमुख न करे; वरन् अपने आचरण से उन्हें भक्तिभाव के साथ कर्म करने में ही लगाये।।२६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

अनुवाद

सम्पूर्ण कर्म वास्तव प्रकृति के गुणों द्वारा सम्पादित होते है; परन्तु गुणो से उत्पन्न अहकार से मोहित जीवात्मा अपने को इनका कर्ता मान बैठता है।।२७।।

तात्पर्य

यदि एक कृष्णभावनाभावित पुरुष और एक विषयी, ये दोनों समान कर्म में प्रवृत्त हो, तो यद्यपि ऐसा लगेगा कि दोनों समान स्तर पर कार्य कर रहे है, परन्तु वास्तव मे दोनों की स्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। विषयी में मिथ्या अहंकारवश यह मान्यता रहती है कि सम्पूर्ण क्रियाओं का कर्ता वह स्वयं है। वह यह नही जानता कि इस देह की रचना प्रकृति ने की है, जो भगवान् श्रीकृष्ण की अध्यक्षता मे कार्य करती है। विषयी इस सत्य से अनभिज्ञ रहता है कि अन्तिम रूप में वह सब प्रकार से श्रीकृष्ण के आधीन है। इस प्रकार का मिथ्या अहंकारी समझता है कि वह सब कुछ स्वय स्वतन्त्र रूप से करता है। यह अविद्या का लक्षण है। वह नही जानना कि यह स्थूल-सूक्ष्म शरीर श्रीभगवान् के निर्देशानुसार माया द्वारा रचित है और इसलिए सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक कर्मों के द्वारा उसे कृष्णभावना—कृष्णसेवा में ही तत्पर रहना चाहिए। अज्ञानी भूल जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण हृषीकेश हैं, अर्थात् देह की इन्द्रियो के अधीश्वर है। सुदीर्घ काल तक विषयभोग करने में इन्द्रियों का दुरुपयोग करने से उत्पन्न हुये अहकार द्वारा जीव मोहित हो रहा है। इसी कारण उसे श्रीकृष्ण मे अपने नित्य सम्बन्ध का विस्मरण हो जाता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

अनुवाद

परन्तु हे महाबाहु ! जो भक्तिभावमय कर्म तथा सकाम कर्म में भेद को भली प्रकार से जानता है, वह तत्त्वज्ञानी इन्द्रियों और इन्द्रियतृप्ति के परायण नही होता।।२८।।

तात्पर्य

तत्त्ववेत्ता निश्चित रूप से जानता है कि विषयसग उसके स्वरूप के प्रतिकूल है। वह जानता है कि उसका स्थान इस प्राकृत-जगत् मे नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण का भिन्न-अंश है। सच्चिदानन्दमय श्रीभगवान् के भिन्न-अश के रूप मे अपने स्वरूप के ज्ञान के साथ ही उसे यह भी अनुभूति होती है कि जिस किसी कारणवश वह देहात्मबुद्धि के बन्धन में पड़ गया है। शुद्ध स्वरूप में

उसका कार्य अपने कर्मों को श्रीकृष्ण के भक्तियोग में नियोजित करना है। अतएव वह कृष्णभावनाभावित कर्मों में ही पूर्णतया तत्पर होकर इन्द्रियतृप्ति विषयक प्रासगिक एवं अनित्य कर्म से स्वतः विरक्त हो जाता है। वह जानता है कि उसकी सांसारिक परिस्थिति परमेश्वर के नियन्त्रण मे है। इसलिए बड़े से बड़े प्राकृत दुःख से भी वह विचलित नही होता। दुःखो मे भी उसे भगवत्कृपा का दर्शन होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार, जो परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान्—इन तीनो रूपों मे जानता है, वह **तत्त्ववित्** है। ऐसा ज्ञानी परब्रह्म के सम्बन्ध में अपने यथार्थ स्वरूप को भी जानता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

अनुवाद

माया के गुणो से मोहित हुए अज्ञानी प्राकृत क्रियाओ मे पूर्ण रूप से प्रवृत्त होकर उन्ही मे आसक्त हो जाते है। परन्तु उन मन्द कर्म करने वाले अज्ञानियो को ज्ञानी चलायमान न करे।।२९।।

तात्पर्य

देह मे मिथ्या आत्मबुद्धि कर लेने के कारण अज्ञानी मनुष्य प्राकृत उपाधियो से पूर्ण रहते है। यह देह अपरा प्रकृति की देन है। इसलिए जिसकी देह मे ही गाढ आत्मबुद्धि हो रही है, उस मनुष्य को 'मन्द' अर्थात् आलसी (आत्मज्ञानविहीन) कहा जाता है। अज्ञानियो के लिए देह ही आत्मस्वरूप है, उनके लिए शारीरिक सम्बन्ध ही बन्धुत्व है। वे देह की जन्मभूमि को आराध्य समझते है, तथा कर्मकाण्ड को अपना लक्ष्य मानते है। समाज सेवा, राष्ट्रीयता तथा परोपकार आदि इन भव रोगियों के कुछ कार्य हैं। ऐसी उपाधियो के मोह में आकर वे सदा प्रपंच के क्षेत्र में ही सलग्न रहते है। उनके लिए भगवत्प्राप्ति मनोकल्पनामात्र है, जिसमे उनकी कोई रुचि नही। ऐसे मूढ अहिंसा जैसे जीवन के प्राथमिक नैतिक सिद्धान्तो तथा अन्य विषयसुखप्रदायक कार्यों में भी प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु जो परमार्थ-पथ के पथिक ज्ञानी हैं, वे इन विषयासक्त मनुष्यो को चलायमान न करे। ऐसे में अधिक अच्छा हो यदि शान्तभाव से अपना परमार्थ का साधन करता रहे।

अज्ञानी मनुष्य कृष्णभावनाभावित कर्मों के माहात्म्य को हृदयगम नहीं कर सकता। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण का परामर्श है कि ऐसे व्यक्तियो को विचलित करने

में अमूल्य समय नष्ट करना व्यर्थ है। परन्तु भक्तजन भगवान् से भी अधिक कृपामय होते है, क्योंकि वे श्रीभगवान् के यथार्थ प्रयोजन को जानते हैं। वे जानते हैं कि कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण होना मानव के लिए परम आवश्यक है। अतएव इस शिक्षा का सम्पूर्ण विश्व में प्रसार करने के लिए महाभागवत बड़े से बड़ा संकट सहते हैं, यहाँ तक कि अज्ञानी के निकट जाकर उसे कृष्णभावनाभावित कर्म (भगवत्सेवा) में नियुक्त करने का प्रयास करते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों का मुझमे समर्पण करके, चित्त को मुझमें ही लगाकर तथा ममता, अहंता, और आलस्य से मुक्त होकर निष्काम भाव से युद्ध कर।।३०।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे भगवद्गीता का प्रयोजन स्पष्ट रूप मे प्रकट है। श्रीभगवान् की शिक्षा है कि स्वधर्म-पालन के लिए सैन्य-अनुशासनवत् पूर्णतया कृष्णभावनाभावित हो जाना आवश्यक है। यह आदेश अपेक्षाकृत कुछ कठिन हो सकता है। फिर भी श्रीकृष्ण की आश्रयता मे स्वधर्मपालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए, क्योंकि यह जीव का शाश्वत् स्वरूप है। जीव का नित्य स्वरूप भगवान की इच्छा के आधीन रहना है, इसलिए श्रीभगवान् के सहयोग से विमुख जीव सुखी नहीं हो सकता। अत श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आज्ञा दी, मानो वे उसके सेनानायक हों। भगवत्कृपा-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सर्वस्व त्याग करने के साथ-साथ भोक्तापन से मुक्त होकर स्वधर्म का आचरण किया जाय। अर्जुन को श्रीभगवान् की आज्ञा पर विचार नहीं करना है, उसे तो तत्काल उसका पालन ही करना है। परमेश्वर श्रीकृष्ण आत्माओ के आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। अतएव जो निष्काम भाव से पूर्णतया उन्हीं के आश्रित हो, अर्थात् पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो, उसे **अध्यात्मचेतसा** कहते हैं। **निराशी** का अर्थ यह है कि गुरु-आज्ञा का निष्काम भाव से पालन करना चाहिए। कोषाध्यक्ष स्वामी के करोडो रुपयों की गणना करता है, पर अपने लिए एक पैसा भी नहीं रखता। इस प्रकार यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व की सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी एकमात्र श्रीभगवान् हैं, मनुष्य नहीं। **मयि** पद का यही तात्पर्य है। जो इस कृष्णभावना से भावित होकर कर्म करता है, वह निस्सन्देह किसी भी पदार्थ पर अपना अधिकार घोषित नहीं करता। इसे

निर्मम बुद्धि कहा जाता है, अर्थात् मेरा अपना कुछ भी नहीं है। इस दृढ़ आदेश मे देह के स्वजनादि सम्बन्धों का विचार नहीं है। अतः इसके पालन मे यदि कोई सकोच बाधा दे, तो उसका त्याग करके **विगतज्वर**—सचेत हो जाना चाहिए।गुण और स्थिति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का अपना विशेष कर्तव्य होता है। जैसा पूर्व में कहा गया है, इन सब कर्तव्यों का पालन कृष्णभावनाभावित होकर किया जा सकता है। इससे मुक्तिपथ प्रशस्त हो जायगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अनुवाद

जो पुरुष मेरे आदेश के अनुसार स्वधर्म का आचरण करते हुए ईर्ष्या से मुक्त रहकर श्रद्धाभाव से मेरी इस शिक्षा का पालन करते हैं, वे कर्मबन्धन से मुक्त हो जाते है।।३१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का परम सार और सार्वभौम शाश्वत् सत्य है। जैसे वेद शाश्वत् हैं, उसी भाँति कृष्णभावना का यह सत्य भी शाश्वत् है। भगवान् की इस आज्ञा को द्वेषबुद्धि से मुक्त होकर प्रगाढ़ श्रद्धा सहित धारण करे। ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जो भगवद्गीता पर भाष्य रचते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में उनका कोई विश्वास नहीं है। वे कर्मबन्धन से कदापि मुक्त नही हो सकते। इसके विपरीत वह साधारण मनुष्य, जो शाश्वत् भगवत्-आज्ञा में अटूट श्रद्धा रखता है चाहे इसका पालन न भी कर सके, वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। यह सम्भव है कि कृष्णभावना के पथ पर प्रवेश करते समय श्रीभगवान् के आदेश का पूर्ण रूप से पालन न हो सके। परन्तु जो पुरुष इस सिद्धान्त का विरोध नही करता, अपितु हानि अथवा निराशा की चिन्ता किये बिना साधन में तत्पर रहता है, वह अतिशीघ्र विशुद्ध कृष्णभावनामृत के स्तर पर आरूढ हो जाता है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

अनुवाद

परन्तु जो द्वेष के कारण मेरे इस उपदेश की उपेक्षा करते हैं, अर्थात्

नित्य-निरन्तर इसका पालन नहीं करते, उन्हे सम्पूर्ण ज्ञान से शून्य, भ्रान्त तथा अज्ञान और बन्धन से भ्रष्ट हुआ जानना चाहिए।।३२।।

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनाभावित न होने के दोष को स्पष्ट किया गया है। राज-अवज्ञा के समान भगवत्-आज्ञा के उल्लघन का दण्ड भी अवश्यमेव भोगना होगा। अवज्ञाकारी बड़े से बडा कोई भी क्यों न हो, हृदयशून्यता के कारण उसे अपना स्वरूप और परब्रह्म, परमात्मा एवं श्रीभगवान् का तत्त्व भी अज्ञात रहता है। अतएव उसके लिए जीवन की सार्थकता की कोई आशा नही हो सकती।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

अनुवाद

ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करता है क्योंकि सब प्राणी अपनी प्रकृति को ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमे बलपूर्वक निग्रह क्या करेगा?।।३३।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

अनुवाद

बद्ध जीवों को इन्द्रियविषयों मे राग-द्वेष का अनुभव होता है; परन्तु इन्द्रियों तथा इन्द्रियविषयो के वश में नहीं होना चाहिए, क्योकि वे दोनों स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग में विघ्नकारी हैं।।३४।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

अनुवाद

दूसरे के धर्म की अपेक्षा दोषयुक्त होने पर भी स्वधर्म का आचरण अधिक कल्याणकारी है। परधर्म मे प्रवृत्त होने की तुलना में स्वधर्म मे मरना भी उत्तम है, दूसरे का धर्म तो भय को देने वाला है।।३५।।

अर्जुन उवाच।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे वार्ष्णेय (श्रीकृष्ण)! फिर किसके द्वारा प्रेरित हुआ यह मनष्य इच्छा न होने पर भी बलात् पापकर्म में प्रवृत्त हो जाता है?।।३६।।

तात्पर्य

जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अश है, इसलिए अपने आद्य स्वरूप में दिव्य, शुद्ध एव समस्त प्राकृतिक विकारो से मुक्त है। अतएव स्वभावत वह प्राकृत-जगत् के पापकर्मों मे प्रवृत्त नही हो सकता। किन्तु माया के ससर्ग में आने पर निस्सङ्कोच नाना प्रकार से, बहुधा मन के विरुद्ध भी, अनेक पापकर्म कर बैठता है। अतः संसार में जीवों का स्वभाव विकृत क्यो हो जाता है, इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण से अर्जुन की जिज्ञासा बहुत समीचीन है। यद्यपि कभी-कभी जीवात्मा पापकर्म करना नही चाहता, तथापि बलात्कार से उसमें प्रवृत्त हो जाता है। ये पापकर्म अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा प्रेरित नहीं होते; जैसा श्रीभगवान् अगले श्लोक मे कह रहे है, इसका एक अन्य कारण है।

श्रीभगवानुवाच।
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! इसका कारण रजोगुण से उत्पन्न काम ही है, जो बाद में क्रोध का रूप धारण कर लेता है और जो इस ससार मे कभी न तृप्त होने वाला महापापी शत्रु है।।३७।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

अनुवाद

जिस प्रकार धूएँ से अग्नि, धूल से दर्पण अथवा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही जीवात्मा अलग-अलग अनुपात मे इस काम के आवरण से ढका हुआ है।।३८।।

तात्पर्य

जीवात्मा की शुद्ध चेतना को धूमिल करने वाला आवरण प्रगाढ़ता के अनुपात-भेद से तीन प्रकार का होता है, जैसे अग्नि में धूम्र, दर्पण पर मल तथा गर्भ को ढकने वाला गर्भाशय। इस प्रकार विविध परिस्थितियों में अलग-अलग अनुपात में अभिव्यक्त होने वाला यह आवरण काम ही है। जब काम को धूम्र की उपमा दी जाती है तो यह समझना चाहिए कि जीवात्मा का स्वरूप कुछ-कुछ अनुभवगम्य है। प्रकारान्तर से, जब जीवात्मा कृष्णभावना का हलका-सा प्रदर्शन करता है तो उसे धूएँ से ढकी अग्नि की उपमा दी जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि जहाँ भी धूम्र हो वहाँ अग्नि का होना अनिवार्य है; फिर भी पहले-पहले अग्नि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती। यह अवस्था कृष्णभावनामृत के प्रारम्भ जैसी है। दर्पण पर रज का उदाहरण पारमार्थिक साधनों से चित्त रूपी दर्पण के शोधन की ओर सकेत करता है। इसकी सर्वोत्तम पद्धति भगवन्नाम-कीर्तन है। जेर द्वारा आच्छादित गर्भ के उदाहरण से एक असहाय अवस्था का दृष्टान्त दिया गया है, क्योंकि गर्भ में शिशु इतनी असहाय अवस्था में रहता है कि कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता। जीवन की यह अवस्था वृक्षों के तुल्य है। वृक्ष जीवात्मा हैं, किन्तु उनमे काम की प्रबलता को देखते हुए उन्हें ऐसी योनि मिली है जो प्राय चेतनाशून्य है। धूमिल दर्पण पशु-पक्षियों के तुल्य है तथा धूम्र से आच्छादित अग्नि मनुष्य से तुलनीय है। मानव देह में ही जीवात्मा अपनी कृष्णभावना का पुन उन्मेष कर सकता है। इसके अधिक प्रगति करने पर भगवद्भक्ति रूपिणी अग्नि सम्पूर्ण मानव समाज मे प्रोज्ज्वलित की जा सकती है। यदि उस अग्नि से निकले धूम्र का भलीभाँति नियन्त्रण किया जाय तो वह प्रचण्ड हो उठेगी। इस प्रकार मानव देह जीवात्मा के लिए भवबन्धन से मोक्ष-प्राप्ति का अन्यतम अवसर है। इस मानव देह मे ही सद्गुरु के आश्रय मे कृष्णभावना का सेवन करने से कामरूपी दुर्जेय शत्रु को विजय किया जा सकता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

अनुवाद

इस प्रकार मनुष्य की शुद्ध चेतना उसके नित्य वैरी, इस काम से ढकी हुई है, जो सदा अतृप्त अग्नि के समान प्रचण्ड रहता है।।३९।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।४० ।।

अनुवाद

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के निवास है। इनके द्वारा यह जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान को ढक कर उसे मोहित करता है।।४०।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।४१ ।।

अनुवाद

इसलिए हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पहले इन्द्रियों को वश मे करके फिर ज्ञान-विज्ञान का नाश करने वाले इस महापापमय काम को मार।।४१।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।४२ ।।

अनुवाद

कर्मेन्द्रियाँ जड़ प्रकृति से श्रेष्ठ हैं; मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से भी श्रेष्ठतर है और वह (आत्मा) बुद्धि से भी परे है।।४२।।

अनुवाद

इस प्रकार हे महाबाहु ! इन्द्रियों, मन और बुद्धि से परे अपने दिव्य आत्मस्वरूप को जानकर और बुद्धि के द्वारा चित्त को वश में करके आत्मशक्ति से युक्त होकर इस कामरूपी कभी शान्त न होने वाले दुर्धर्ष शत्रु को मार।।४३।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता का यह तृतीय अध्याय निर्विशेष शून्यवाद को पूर्ण रूप से निरस्त करके जीव को यह ज्ञान प्रदान करता है कि वह श्रीकृष्ण का नित्य दास है और इस प्रकार उसे कृष्णभावना की दिशा में निर्णायक रूप से अग्रसर करता है। प्रापञ्चिक जीवन में जीव काम-विकार और प्रकृति पर प्रभुत्व की कामना से निश्चित रूप में युक्त रहता है। प्रभुत्व की इच्छा और इन्द्रियतृप्ति मायाबद्ध जीव के परम शत्रु है; परन्तु कृष्णभावनामृत की शक्ति के द्वारा वह इन्द्रियों, मन और बुद्धि का संयम करने में सक्षम हो जाता है। अकस्मात् कर्म और स्वधर्म का त्याग करना आवश्यक

नही है, शुद्ध स्वरूप में एकाग्र मति के द्वारा कृष्णभावना का शनै शनै विकास करने से उस शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति हो जाती है जो इन्द्रियो और चित्त से परे है। यह सिद्धान्त इस अध्याय का परम सार है। ससार की अपरिपक्व दशा मे ज्ञान अथवा योगासनो के अभ्यास से इन्द्रियो को वश में करने का कृत्रिम प्रयास मानव के लिये भगवत्प्राप्ति मे कभी सहायक नही हो सकता। इसके लिए सद्गुरु से कृष्णभावना की शिक्षा प्राप्त करनी होगी।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये तृतीयोऽध्यायः।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः



ज्ञानकर्मसंन्यासयोग

(दिव्यज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अनुवाद

भगवान् ने कहा, मैंने इस अविनाशी योग का सूर्यदेव विवस्वान् को उपदेश किया था। विवस्वान् ने इसकी शिक्षा मानव जाति के जन्मदाता मनु को दी तथा मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा।।१।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे हमें भगवद्गीता का इतिहास प्राप्त होता है, जो उस चिरन्तन काल से अनुरक्षित किया गया है जब वह सम्पूर्ण लोकों के राजाओं को प्रदान की गई थी। यह विज्ञान विशेष रूप से प्रजाजनों की रक्षा के लिए प्रयोजित है। इसलिए

राजवंश को इसे भलीभाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए, जिससे वह प्रजा का पालन और कामरूपी बन्धन से संरक्षण कर सके। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् से अपने शाश्वत् सम्बन्ध के ज्ञान का अर्जन करना है। अतएव सब राज्यों और लोकों के अधिनायकों का यह प्रधान कर्तव्य है कि विद्या, संस्कृति और भक्ति के द्वारा जनता में इस शिक्षा का प्रसार करें। दूसरे शब्दों में, सभी राज्याध्यक्षों से यह आशा की जाती है कि वे कृष्णभावना का प्रसार करें, जिससे कि इस विज्ञान से लाभान्वित होकर जनता मानवयोनि के दुर्लभ सुअवसर का सदुपयोग करती हुई सर्वोन्मुखी निजयपथ का अनुसरण कर सके।

इस युग में सूर्य के अधिष्ठातृ-देवता विवस्वान् हैं। ये सम्पूर्ण सौरमण्डलीय लोकों के जन्मदाता और सूर्यलोक के अधिपति हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

ब्रह्माजी ने कहा, 'मै भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, जो आदिपुरुष हैं और जिनकी आज्ञानुसार सम्पूर्ण लोकों का अधिपति सूर्य अशेष तेज एवं शक्ति धारण कर रहा है। यह सूर्य भगवान् गोविन्द के चक्षु के तुल्य है और उन्हीं की आज्ञानुसार अपने काल-चक्र में घूमता है।'

सूर्य सम्पूर्ण लोको का अधिपति है और सूर्यदेव (वर्तमान समय मे विवस्वान्) तेज-शक्ति की आपूर्ति करके अन्य सब लोकों का नियन्त्रण करने वाले इस सूर्य पर राज्य करते हैं। यह भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार भ्रमण कर रहा है। आदिकाल मे भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता-विज्ञान ग्रहण करने के लिए विवस्वान् को ही अपना प्रथम शिष्य बनाया था। अतः गीता क्षुद्र लौकिक विद्वान् के लिये प्रयोजित मनोधर्मी की रचना न होकर स्मरणातीत काल से चली आ रही परम्परा के द्वारा प्राप्त प्रामाणिक ज्ञान-शास्त्र है। महाभारत (शान्तिपर्व ३४८ ५१-५२) मे गीता-इतिहास के सम्बन्ध में यह उल्लेख है—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।।

"त्रेतायुग के आदि में विवस्वान् ने इस योग (भगवान् से सम्बन्ध) विषयक विज्ञान का मनु को उपदेश किया था और मनु ने, जो मानवमात्र के जन्मदाता हैं, इसे पुत्र महाराज इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक एवं उस रघुवंश के

पूर्वज थे, जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार ग्रहण किया। इससे प्रमाणित होता है कि भगवद्गीता मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के समय से ही विद्यमान है।'

वर्तमान कलियुग के केवल ५००० वर्ष व्यतीत हुए हैं, जबकि इसकि पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इससे पूर्व द्वापर युग (८,००,००० वर्ष) और उससे भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष) व्यतीत हो चुके हैं। इस प्रकार लगभग २०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य और पुत्र, इस पृथ्वी के सार्वभौम सम्राट् महाराज इक्ष्वाकु के प्रति भगवद्गीता का प्रवचन किया था। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष है, जिसमें से १२,०४,००,००० का व्यय हो चुका है। मनु से पूर्व श्रीभगवान् अपने शिष्य सूर्यदेव विवस्वान् के समक्ष गीतोपदेश कर चुके थे। इस अनुमान के अनुसार गीता का सर्वप्रथम प्रवचन कम से कम १२,०४,००,००० पूर्व हुआ और मानव समाज में भी लगभग २०,००,००० वर्ष से इसका प्रचलन रहा है। आज से पाँच हजार वर्ष पहले भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को श्रोता बनाकर इसका पुन गायन किया। स्वय गीता और गीतागायक भगवान् श्रीकृष्ण के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता के इतिहास का यह स्थूल अनुमानमात्र है। गीता सूर्यदेव विवस्वान् के प्रति कही गयी थी, क्योकि वे क्षत्रिय है, वस्तुत सम्पूर्ण सूर्यवशी क्षत्रियो के जन्मदाता हैं। स्वय भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने से भगवद्गीता वेदतुल्य अपौरुषेय ज्ञान है। वेद-वाणी को उसके मूलरूप मे वाग्चातुरी के बिना स्वीकार किया जाता है। इसलिए गीता को भी इसी प्रकार यथारूप मे अगीकार करना होगा। तार्किक अपनी उच्छृखल विधि से गीता का कुछ भी मनमाना अर्थ लगा सकते है; परन्तु भगवद्गीता का यथार्थ स्वरूप उन्हे सदा अलभ्य रहेगा। अतएव भगवद्गीता को गुरुपरम्परा के अनुसार यथारूप मे हृदयगम करना ही कल्याणकारी है। इसी सिद्धान्त की स्थापना के लिए यहाँ कहा गया है कि श्रीभगवान् ने सूर्यदेव को, सूर्यदेव ने पुत्र मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को भगवद्गीता का उपदेश किया।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

अनुवाद

इस प्रकार शिष्यपरम्परा के द्वारा यह परम विज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इस विधि से जाना, किन्तु काल-क्रम से वह परम्परा खण्डित हो गई, जिससे यह विज्ञान अपने यथार्थ रूप में लुप्तप्राय हो गया।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

अनुवाद

वही प्राचीन योग मैंने आज तेरे से कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, अतएव इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को हृदय में धारण कर सकता है।।३।।

तात्पर्य

मानव की भक्त और असुर—ये दो कोटियाँ हैं। श्रीभगवान् ने इस परमोच्च विज्ञान के श्रोता के रूप में अर्जुन का वरण किया, क्योंकि वह भगवद्भक्त था। असुरों के लिए यह उत्तम रहस्यमय विज्ञान सर्वथा दुर्बोध्य है। ज्ञान के इस अनुपमेय ग्रन्थ के अनेक सस्करण उपलब्ध है। उनमें से कुछ भक्त-विरचित भाष्य है और कुछ मे असुरों की टीकाएँ हैं। वास्तव मे भक्तो की व्याख्याएँ ही यथार्थ है। इसके विपरीत, असुरों के भाष्य सर्वथा निरर्थक हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण को साक्षात् स्वय भगवान् मानता है। अत अर्जुन के चरणचिह्नो का अनुसरण करने वाली गीता की व्याख्या ही इस परम विज्ञान की सच्ची सेवा है। दुर्भाग्यवश आसुरभावापन्न भाष्यकार श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मनोकल्पना कर जनता और पाठकवर्ग को श्रीकष्ण की शिक्षा के पथ से भटका देते है। अतएव कल्याण का अभिलाषी अर्जुन की परम्परा का अनुसरण करे।

अर्जुन उवाच।
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, सूर्यदेव विवस्वान् का जन्म आपसे अति पूर्व हुआ है, इसलिए मै यह कैसे समझूँ कि पहले आप्ने ही सूर्य को इस योग का उपदेश किया था।।४।।

श्रीभगवानुवाच।
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म् व्यतीत हो चुके है। मुझे तो उन सबकी स्मृति है, पर हे परतप! तू उन्हें नहीं जानता।।५।।

तात्पर्य

ब्रह्मसंहिता से हमें श्रीभगवान् के नानाविध अवतारों की जानकारी मिलती है। वहाँ (ब्र० सं० ५.३३) कथन है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्ल्लभमदुर्ल्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मै आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, जो अद्वैत, अच्युत, अनादि हैं तथा अनन्तरूप होते हुए भी आद्य, पुराणपुरुष और नित्य नवयौवन-युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय रूपों को प्रायः वेदों के पारगामी विद्वच्चूड़ामणि जानते हैं, पर विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य ही प्राप्त रहते हैं।'

ब्रह्मसहिता मे ही (५.३९) कहा है—

रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान्यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मै भगवान् श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ, जो राम, नृसिंह आदि अवतारों और अंशावतारों मे नित्य अवस्थित रहते हुए भी कृष्णनाम से विख्यात आदिपुरुष है और जो स्वयं (अपने आद्य रूप मे) भी अवतरित होते हैं।'

वेदों मे भी कहा है कि अद्वय होते हुए भी श्रीभगवान् असंख्य रूपों मे प्रकट होते है। वे उस वैदर्यमणि के समान हैं जो अपना वर्णपरिवर्तन करने पर भी स्वरूप से निर्विकार रहती है। उन विविध भगवत्-रूपों को शुद्ध निष्काम भक्त ही जानते हैं; केवल वेदाध्ययन करने से उनका ज्ञान नहीं हो सकता· **वेदेषु दुर्ल्लभमदुर्ल्लभमात्मभक्तौ**। अर्जुन जैसे भक्त श्रीभगवान् के नित्य प्रिय सखा है। अतएव जब भी प्रभु अवतार ग्रहण करते है तो उनके सहचर भक्त भी नाना प्रकार से भगवत्सेवा करने के लिए उनके साथ अवतरित होते हैं। अर्जुन एक ऐसा ही भक्त है और इस श्लोक के अनुसार, करोड़ों वर्ष पूर्व जब श्रीकृष्ण ने सूर्यदेव को भगवद्गीता सुनाई थी, तो अर्जुन वहाँ भी किसी अन्य रूप में विद्यमान था। परन्तु श्रीभगवान् और अर्जुन में यह अन्तर है कि श्रीभगवान् को उस इतिहास का स्मरण बना रहा, जबकि अर्जुन को विस्मृति हो गई। भिन्न-अंश जीवात्मा और परमेश्वर श्रीकृष्ण मे यही भेद है। यद्यपि अर्जुन को यहाँ शत्रुविजयी, शूरवीर सम्बोधित किया गया है, पर अपने पूर्वजन्मों का स्मरण करने मे वह असमर्थ है। अत. सांसारिक दृष्टि से जीव कितना भी बडे से बडा क्यों न हो, परन्तु श्रीभगवान् की समकक्षता कदापि नहीं कर सकता। श्रीभगवान् का नित्य सहचर निस्सन्देह जीवन्मुक्त होता है, पर वह भी उनके तुल्य नही हो सकता। 'ब्रह्मसहिता' में

श्रीभगवान् को **अच्युत** कहा गया है, जिसका अर्थ यह है कि प्रकृति के संग में भी उन्हें स्वरूप-विस्मरण नहीं होता। अतः सिद्ध हुआ कि श्रीभगवान् एवं जीव सब प्रकार से समान कभी नहीं हो सकते; चाहे जीवात्मा अर्जुन के जैसे जीवमुक्त ही क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवद्भक्त है, तथापि समय-समय पर उसे भगवत्स्वरूप का विस्मरण हो जाता है। परन्तु यह अवश्य है कि भगवान् की अमोघ कृपा से भक्त को उनके अच्युतस्वरूप का तत्काल फिर बोध हो जाता है, जबकि अभक्त अथवा असुरों के लिए यह दिव्य तत्त्व सदा अज्ञात रहता है। इसी से गीता का यह विवरण आसुरीबुद्धि के लिए अगम्य है। श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सम्पादित क्रियाओं का स्मरण है; किन्तु अर्जुन को नही, यद्यपि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही का स्वरूप नित्य है। इस श्लोक से हमे यह भी बोध होता है कि देहान्तर करने पर जीवात्मा को पूर्ण विस्मृति हो जाती है, जबकि श्रीभगवान् को त्रिकाल में कभी विस्मृति नही होती, क्योंकि उनका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। श्रीभगवान् अद्वैत हैं, उनके देह तथा स्वय उनमे अभेद है। उनसे सम्बन्धित प्रत्येक तत्त्व चिन्मयस्वरूप है, जबकि जीवात्मा अपनी प्राकृत देह से भिन्न है। भगवान् के देह और स्वयं भगवान् मे अभेद होने के कारण जब वे प्राकृत स्तर पर अवतरित होते हैं तो भी उनकी स्थिति साधारण जीवात्मा से विलक्षण रहती है। असुर श्रीभगवान् के इस परात्पर चिन्मयस्वरूप को अनुकूल भाव से अंगीकार नहीं कर सकते, जैसे अगले श्लोक मे श्रीभगवान् स्वयं कह रहे है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

अनुवाद

मै अजन्मा, सब प्राणियों का ईश्वर और सच्चिदानन्दमय अविनाशी स्वरूप होते हुए भी युग-युग में अपने आद्य चिन्मय रूप में अवतरण करता हूँ।।६।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने अपने विलक्षण आविर्भाव के वैशिष्ट्य का वर्णन स्वयं श्रीमुख से किया है—साधारण मनुष्य प्रतीत होते हुए भी अपने अनेक-अनेक पूर्व 'जन्मों' की उन्हें पूर्ण स्मृति है, जबकि साधारण मनुष्य को कुछ ही घण्टे पूर्व सम्पादित कार्य तक का स्मरण नहीं रहता। यदि किसी से पूछा जाय कि एक दिन पहले ठीक उसी समय उसने क्या किया था, तो साधारण मनुष्य के लिए इसका तत्काल उत्तर देना कठिन होगा। एक दिन पूर्व उसी समय किए हुए कर्म का स्मरण करने के लिए उसे अपनी बुद्धि का आलोडन करना होगा। इतने दुर्बल होने पर भी बहुधा मनुष्य अपने को ईश्वर

अथवा श्रीकृष्ण घोषित करने का दुःसाहस कर बैठते हैं। इन निरर्थक दावों से भ्रान्त नहीं होना चाहिए। श्रीभगवान् अपनी प्रकृति अथवा रूप का आगे वर्णन करते हैं। प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' और 'स्वरूप' होता है। श्रीभगवान् का कथन है कि वे स्वयं अपनी देह में प्रकट होते हैं, साधारण जीवात्मा के समान देहान्तर नहीं करते। बद्धजीव को वर्तमान जन्म में एक प्रकार की देह प्राप्त होती है, तो पुनर्जन्म में कोई और। प्राकृत-जगत् में जीवात्मा की योनि निश्चित नहीं है, उसका देहान्तर होता रहता है, श्रीभगवान् ऐसा नहीं करते। वे जब भी प्रकट होते हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा उसी आद्य विग्रह में प्रकट होते हैं। भाव यह है कि श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने उसी आद्य एवं शाश्वत् वेणुधारी द्विभुज रूप में प्रकट होते है, जो इस प्राकृत-जगत् के विकारों से सर्वथा मुक्त है। तथापि, उन सच्चिदानन्दमय परमेश्वर का आविर्भाव साधारण प्राणी के जन्म के समान भासता है। श्रीकृष्ण बाल्यावस्था से कौमार तथा कौमार से यौवन में तो प्रवेश करते हैं, पर यह विस्मयास्पद होते हुए भी नितान्त सत्य है कि उनकी वय यौवन से आगे कभी नहीं बढ़ती। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय वे पितामह बन चुके थे; अर्थात् लौकिक गणना के अनुसार उनकी आयु का पर्याप्त व्यय हो चुका था, फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्षीय नवयुवक जैसे लगते थे। हमें कभी किसी ऐसे चित्र की प्राप्ति नहीं होती जिसमें श्रीकृष्ण वृद्ध दिखायी दें, क्योंकि सम्पूर्ण त्रैकालिक (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) सृष्टि के आदि, पुराण पुरुष होने पर भी श्रीकृष्ण हमारी भाँति वृद्धावस्था को कभी प्राप्त नहीं होते। साथ ही, उनकी चिन्मय देह एवं बुद्धि मे क्षय अथवा विकार नही होता। अतएव यह स्पष्ट है कि प्राकृत-जगत् में अवतरित होने पर भी वे अपनी परिवर्तनरहित दिव्य देह और बुद्धि से युक्त वही अजन्मा, नित्य, सच्चिदानन्दमय हैं। वस्तुतः उनका आविर्भाव-तिरोभाव सूर्य के उदित होने और हमारे आगे से गमन करके दृष्टि से विलुप्त हो जाने जैसा है। सूर्य के अगोचर होने पर हमें जान पड़ता है कि सूर्यास्त हो गया है तथा उसके दृष्टिगोचर होने पर हम समझते है कि सूर्य क्षितिज पर विद्यमान है। वस्तुतः तो सूर्य अपने नियत स्थान पर निरन्तर बना रहता है, अपनी दोषपूर्ण अपर्याप्त इन्द्रियों के कारण हम ही आकाश में सूर्य के उदय-अस्त होने की कल्पना किया करते है। अतएव यह सिद्ध होता है कि किसी भी सामान्य जीवात्मा की अपेक्षा श्रीभगवान् का आविर्भाव-तिरोभाव पूर्णरूपेण विलक्षण है, वे स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति के कारण सच्चिदानन्दघन है और माया से कभी दूषित नहीं होते वेद मे भी प्रमाण है कि अजन्मा होते हुए भी श्रीभगवान् विविध दिव्य अवतार ग्रहण करते है। वेदान्त से यह भी सिद्ध है कि यद्यपि श्रीभगवान् जन्म लेते प्रतीत होते है, परन्तु वे देहान्तर नही करते। श्रीमद्भागवत मे वे जननी के सम्मुख

षडैश्वर्य समन्वित चतुर्भुज नारायण रूप से प्रकट हुए है। विश्वकोष के अनुसार स्वरूपसिद्ध आद्य नित्य विग्रह मे उनका अवतरण उनकी निरुपाधिक कृपा का ही कार्य है। श्रीभगवान् को अपने सम्पूर्ण पूर्व आविर्भाव-तिरोधानों की शाश्वत् स्मृति रहती है, जबकि जीवात्मा देहान्तर करते ही पूर्व शरीर के सम्बन्ध मे सब कुछ भूल जाता है। इसी विशिष्टता के कारण श्रीभगवान् सम्पूर्ण जीवो के परमेश्वर है और पृथ्वी पर अवतरण-काल मे अद्भुत, अतिमानवीय लीलारस-निर्यास का परिवेषण करते है। श्रीभगवान् नित्य अद्वय है, उनके देह और स्वरूप अथवा गुण और देह मे भेद नही है। इस सन्दर्भ मे चित्त मे यह जिज्ञासा हो सकती है कि इस ससार मे श्रीभगवान् के प्रादुर्भाव एव तिरोधान का वास्तव मे प्रयोजन ही क्या है? अगले श्लोक मे इसका विवरण है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

अनुवाद

हे भारत! जिस-जिस देश-काल मे धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मै अवतरित होता हूँ।।७।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे प्रयुक्त सृजामि पद अति महत्त्वपूर्ण है। अवतारतन्त्र के सन्दर्भ मे 'सृजामि' का प्रयोग रचने के अर्थ मे नही हो सकता, क्योकि पूर्व श्लोक के अनुसार, भगवत्-रूप अथवा भगवत्-देह का सृजन नही होता, सभी भगवत्-रूप शाश्वत् है। अत इस सन्दर्भ मे 'सृजामि' का अर्थ श्रीभगवान् द्वारा अपने को प्रकट करना है। यद्यपि श्रीकृष्ण ब्रह्मा के प्रत्येक दिवस (कल्प) मे, आठवे मनु के अट्ठाईसवे चतुर्युग के द्वापर के अन्त मे प्रकट होते है। पर इस नियम के पालन मे वे बाध्य नहीं है, वरन् स्वेच्छामय कर्म करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। अत अधर्म का प्राबल्य एव यथार्थ धर्म का लोप होने पर वे स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। धर्म का प्रतिपादन वेदो मे है। अतएव वैदिक विधान का भलीभाँति पालन करने मे हुआ प्रमाद अधर्म का कारण सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार धर्म का विधान साक्षात् श्रीभगवान् ने किया है। एकमात्र श्रीभगवान् ही किसी भी धर्म-व्यवस्था का प्रणयन कर सकते है। वेदों के सम्बन्ध में यह सर्वमान्य है कि ब्रह्मा के हृदय-गह्वर मे उनका सचार श्रीभगवान् ने किया। इस दृष्टि से धर्म के विधान साक्षात् भगवदाज्ञा हैं (**धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्**)। भगवद्गीता में आद्योपान्त इस तत्त्व का विशद वर्णन हुआ है। वेदों का प्रयोजन श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार धर्म-स्थापना करना है और

गीता के अन्त में तो स्वयं श्रीभगवान् की आज्ञा है कि उनके शरणागत हो जाना ही धर्म है। वैदिक सिद्धान्त जीव को पूर्ण भगवत्-शरणागति की ओर अग्रसर करते हैं; इसलिए जब-जब असुर इनके मार्ग मे विघ्न उपस्थित करते हैं तो श्रीभगवान् का आविर्भाव होता है। श्रीमद्भागवत से हम जानते है कि बुद्धदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार है। उनका प्रादुर्भाव उस काल मे हुआ जब विषयपरायणता सर्वव्यापी हो गयी थी और विषयी व्यक्ति भी कपटपूर्वक वेदप्रमाण की आड ले रहे थे। यह सत्य है कि वेदो मे विशिष्ट प्रयोजन के लिए पशुबलि के कतिपय नियामक विधि-विधान है, पर उस समय आसुरी स्वभाव वाले वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध पशुबलि कर रहे थे। इस अनर्थ का निवारण करके वैदिक सिद्धान्त अहिसा को स्थापित करने के लिए बुद्ध प्रकट हुए। इस प्रकार प्रत्येक अवतार का शास्त्रसम्मत विशिष्ट प्रयोजन होता है। अतएव शास्त्र-प्रमाण के बिना किसी को भी अवतार के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। श्रीभगवान् केवल भारतभूमि पर ही प्रकट होते हों, ऐसा नहीं। वे स्वेच्छानुसार किसी भी देशकाल में अवतरण कर सकते है, परन्तु प्रत्येक अवतार मे वे धर्म का उतना ही प्रवचन करते है, जो उस देशकाल के मनुष्य हृदयगम कर सके। सबका मूल प्रयोजन यही है कि जनता मे भगवद्भावना और धर्मपरायणता का सचार किया जाय। श्रीभगवान् समय-समय पर साक्षात् स्वय प्रकट होते है, कभी-कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को पुत्र अथवा दास के रूप मे भेजते है, अथवा स्वय ही किसी गोपनीय रूप में इस धराधाम पर पधारते है।

श्रीमद्भगवद्गीता अर्जुन जैसे महाभागवत को ही सुनाई गयी, क्योंकि ससार के अन्य भागो के साधारण मनुष्यो की तुलना मे वह कही उत्तम था। दो और दो प्राथमिक कक्षा मे भी चार के बराबर होते है और स्नातकोत्तर कक्षा मे भी। परन्तु प्राथमिक कक्षा मे गणित की प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती है, जबकि उच्च कक्षा मे उच्च स्तर का गणित पढाया जाता है। इसी प्रकार सभी भगवत्-अवतारो द्वारा समान सिद्धान्तो की शिक्षा का प्रसारण किया जाता है, केवल देशकाल के भेद से वे उच्च-निम्न प्रतीत होते है। जैसा वर्णन किया जायगा, धर्म के वरेण्य सिद्धान्तो का प्रारम्भ वर्णाश्रम आचार से होता है। सब अवतारो का एकमात्र लक्ष्य सर्वत्र कृष्ण भावनामृत को उद्भावित करना है। परिस्थितियो मे भेद के कारण ही इस भावना का समय-समय पर प्रकाश-अप्रकाश होता रहता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

अनुवाद

भक्तजनों का उद्धार, दुष्टों का नाश और धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मै युग-युग मे प्रकट होता हूँ।।८।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

अनुवाद

हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्व से जानता है, वह देह को त्याग कर संसार में फिर जन्म नहीं लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त हो जाता है।।९।।

तात्पर्य

भगवद्धाम से श्रीभगवान् के अवतरण का प्रतिपादन छठे श्लोक में किया जा चुका है। श्रीभगवान् के आविर्भाव तत्त्व के मर्म को जानने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है। अतएव अपनी प्राकृत देह को त्यागते ही वह तत्काल भगवद्धाम को गमन करता है। मायाबन्धन से जीव की यह मुक्ति सुखसाध्य नही है। निर्विशेषवादी एवं योगी तीव्र क्लेशों से भरे बहुत जन्मान्तरों के बाद ही निर्विशेष ब्रह्मज्योति में लीन हो पाते है। यह भी पूर्ण मुक्ति नही है, क्योंकि संसार में पुनरागमन का भय वहाँ भी बना रहता है। परन्तु भक्त श्रीभगवान् के श्रीविग्रह और लीलामृत के दिव्य स्वरूप को जानकर देह का अन्त होने पर सुगमता से भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे ससार में पुनरागमन का भय सदा-सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। 'ब्रह्मसहिता' में उल्लेख है कि श्रीभगवान् के असख्य अवतार और रूप है— **अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्** । यद्यपि उनके अनेक दिव्य रूप हैं, तथापि श्रीभगवान् अद्वय है। यह सत्य, जो लौकिक विद्वानों और प्रायोगिक दर्शनवेत्ता के लिए सर्वथा अगम्य है, निष्ठापूर्वक हृदयंगम करना होगा। यथा वेदवाणी :

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा।

अद्वयदेव श्रीभगवान् नाना दिव्य रूपो में अपने अनन्य भक्तों के साथ लीला करने मे नित्य अनुरक्त रहते हैं।' इस वेदवचन को स्वयं श्रीभगवान् ने गीता के इस श्लोक में प्रमाणित किया है। जो पुरुष वेद एव श्रीभगवान् के प्रमाण के आधार पर इस सत्य को अगीकार करके दार्शनिक मनोधर्मी करने में समय नष्ट नही करता, वह मुक्ति की परमोन्च अवस्था प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करनेमात्र से निस्सन्देह मुक्ति हो जायगी। वैदिक वाक्य 'तत्त्वमसि' का यथार्थ तात्पर्य इसी

सन्दर्भ से है। जो श्रीकृष्ण को परमब्रह्म जानता है अथवा उनके प्रति यह निवेदन करता है कि 'भगवन्! आप परब्रह्म स्वय भगवान् हैं', वह अवश्य तत्क्षण मुक्त हो जाता है। इसीलिए यह भी निश्चित है कि उसे श्रीभगवान् के चिन्मय सान्निध्य की प्राप्ति होगी। इसमें सन्देह नही कि इस कोटि के श्रद्धालु भगवद्भक्त का जीवन कृतार्थ एव चरितार्थ हो जाता है। वेदवचन इसका प्रमाण है

तमेव विदित्वातिमृत्युमुपैति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।

श्रीभगवान् को जानने से जन्म-मृत्यु से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, मुक्ति का कोई अन्य मार्ग नही है, क्योकि जो श्रीकृष्ण को तत्त्व से नहीं जानता, वह अवश्यमेव तमोगुण मे स्थित है। अतएव मधुपात्र के बाहरी चाटुकारी करने के समान लौकिक विद्या के आधार पर भगवद्गीता की मनमानी व्याख्या करने से मुक्ति नही हो सकेगी। यह सम्भव है कि इस श्रेणी के प्रयोगाश्रयी दार्शनिकों को जगत् मे अत्युच्च पदो की प्राप्ति हो जाय, पर यह आवश्यक नही कि उन्हें मोक्षलाभ भी हो। मिथ्या अहंकार से दृप्त हुए इन लौकिक विद्वानो को कृतार्थ होने के लिए भगवद्भक्त की अहैतुकी निरवधि कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। अत. मनुष्यमात्र को चाहिए कि विवेक और ज्ञान सहित कृष्णभावना का अनुशीलन कर जीवन की कृतार्थता को प्राप्त करे।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

अनुवाद

राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर मुझमें तन्मय हुए और मेरे ही आश्रित हुए बहुत से मनुष्य पूर्व मे मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके है। इस प्रकार उन सभी को मेरे दिव्य प्रेम की प्राप्ति हुई है।।१०।।

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, विषयों में आसक्त मनुष्य के लिए परमसत्य के दिव्य पुरुषरूप को जानना बड़ा कठिन है। प्राय मनुष्यों की देह मे ही आत्मबुद्धि हो रही है, वे इतने अधिक विषयपरायण हो गये हैं कि उनके लिए यह जानना असम्भव सा हो गया है कि एक ऐसी चिन्मय देह भी है जो नित्य एव सच्चिदानन्दमय है। सांसारिक देह क्षणभंगुर अज्ञान से आवृत एव पूर्णतया दु खमय है, इसलिए जब उन्हें श्रीभगवान् के दिव्यरूप की जानकारी दी जाती है तो वे उसे भी ऐसा ही समझते है। इन विषयी व्यक्तियो के लिए विशालकाय प्राकृत सृष्टि ही परतत्त्व है। यही कारण है कि वे परतत्त्व को निर्विशेष मानते है। इसके अतिरिक्त, विषयो मे उनकी इतनी स्थूल

आसक्ति रहती है कि प्रकृति से मुक्ति के उपरान्त भी जीव और भगवान् अपना-अपना स्वरूप बना रहता है, यह विचार उन्हे भयभीत कर देता है। जब वे सुनते है कि मुक्त जीव का अपना स्वरूप रहता है तो उन्हे पुन स्वरूप-प्राप्ति मे भय होता है और इसलिए वे स्वभाव मे निर्विशेष शून्य मे लीन होने को अधिक उत्तम समझते है। वे जीवात्मा को सागर के इन बुद्बुदो की उपमा देते है जो सागर से उठते है और उसी में विलीन हो जाते है। उनकी धारणा मे यह पृथक् स्वरूप से रहित मुक्त-अस्तित्व की चरम सिद्धि है। परन्तु यथार्थ मे तो यह आत्मज्ञान से शून्य जीवन की एक भयावस्था ही है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक मनुष्य है, जो आत्मतत्त्व को लेशमात्र भी नही समझ पाते। नाना मतो एव मनोधर्मो की असगति से किंकर्तव्यविमूढ हुए वे अरुचि अथवा क्रोध के आवेश मे आकर मूर्खतावश निर्णय कर बैठते है कि ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जो सब कारणो का परम कारण हो, अन्ततोगत्वा सब कुछ शून्य ही है। ऐसा कहने वाले नि सन्देह भवरोग से पीडित है। अधिकाश मनुष्य गाढ विषयासक्ति के कारण परमार्थ की उपेक्षा करते है, कुछ परतत्त्व से एक हो जाना चाहते है, तो कुछ निराश होकर सभी प्रकार की पारमार्थिकता के प्रति क्रुद्ध हो उठते है। इस अन्तिम श्रेणी के लोग किसी न किसी प्रकार के मादक पदार्थ का आश्रय लेते है और कभी-कभी तो उससे उत्पन्न मतिविभ्रम को भगवत्-दर्शन समझ लिया जाता है। परमार्थ की उपेक्षा, मुक्त हो जाने पर भी जीव-स्वरूप बना रहेगा, इस विचार से भय और निराशा को जन्म देने वाली शून्यवादी मान्यता—ये तीनों विषयासक्ति के ही रूप है, अतएव इन से मुक्त होना आवश्यक है। इन सभी दोषो से मुक्ति के लिए सद्गुरु के निर्देशानुसार सर्वतोभावेन भगवान् के शरणागत होकर वैधी भक्ति मे तत्पर हो जाना चाहिए। भक्तिमय जीवन की चरम अवस्था को भाव अथवा भगवत्प्रेम कहा जाता है।

श्रील रूपगोस्वामिचरण द्वारा प्रणीत भक्तिविज्ञान 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' के अनुसार

आदौ श्रद्धा ततः साधु संगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः।।

भक्तिपथ का प्रारम्भ स्वरूप-साक्षात्कार विषयक इच्छा से होता है। इससे मनुष्य साधु-सग के लिए प्रयत्न करता है। तदुपरान्त भगवत्प्राप्त सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर उनकी आज्ञानुसार साधक भक्ति का प्रारम्भ करता है। गुरु के पादपद्मो के आश्रय मे भक्ति का अनुष्ठान करने से क्रमश विषयासक्ति से मुक्त, स्वरूप-साक्षात्कार के पथ

मे निष्ठा और भगवत्कथा मे रुचि उद्भावित होती है। इस कथारुचि से कृष्णभावनामृत मे आसक्ति हो जाती है, जो भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान—भाव मे परिपक्व होती है। वस्तुत भगवत्प्रेम मे ही जीवन की सार्थकता और चरितार्थता है। प्रेमाविष्ट भक्त रागानुगा भगवद्भक्ति मे नित्य तत्पर रहता है। इस प्रकार सद्गुरु के आश्रय मे भक्ति की क्रमिक पद्धति के द्वारा सब प्रकार की विषयासक्ति, पृथक् स्वरूप के भय तथा शून्यवादजनित निराशा से सर्वथा रहित सर्वोच्च मुक्त अवस्था प्राप्त होती है और अन्त मे भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

अनुवाद

जो जिस भाव से मेरी शरण लेते है, उसी के अनुरूप मै उन्हे फल देता हूँ। हे पार्थ। मनुष्यमात्र सब प्रकार से मेरे ही पथ का अनुगमन करता है।।११।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की विभिन्न अभिव्यक्तियो मे मनुष्य उन्ही का अन्वेषण कर रहा है। निर्विशेष ब्रह्मज्योति और सबके अन्तर्यामी परमात्मा रूप मे भगवान् श्रीकृष्ण का पूर्ण अनुभव नही होता, श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण प्राप्ति तो केवल उनके शुद्धभक्तो को ही होती है। इस प्रकार से श्रीकृष्ण सभी की अनुभूति के विषय है, कोई भी प्राणी उन्हे प्राप्त करने की अपनी इच्छा के अनुपात मे सन्तोष पाता है। दिव्य वैकुण्ठ-जगत् मे भी श्रीकृष्ण शुद्धभक्तो की कामना के अनुसार दिव्य रसो मे उनके साथ प्रेम का विनिमय करते है। परमेश्वर, सखा, पुत्र, प्रियतम आदि विविध रूपो में श्रीकृष्ण की कामना करते हुए भक्तों के प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुरूप श्रीकृष्ण उन सभी को समभाव से पुरस्कृत करते हैं। प्राकृत-जगत् में भी भगवान् और भक्तो मे परस्पर इसी प्रकार रस और भाव का विनिमय होता है। शुद्धभक्तों को इस जगत् में तथा भगवद्धाम मे भी श्रीभगवान् का सान्निध्य रहता है और इस प्रकार उनकी सेवा मे निमग्न हुए वे महानुभाव भगवद्भक्ति के अलौकिक रसानन्द का आस्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण उन निर्विशेषवादियो की भी सहायता करते हैं जो अपने जीव-स्वरूप को समाप्त करके पारमार्थिक आत्महत्या करने को आतुर हैं। श्रीकृष्ण उन्हें अपनी ब्रह्मज्योति मे विलीन कर लेते है। ये निर्विशेषवादी सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीश्यामसुन्दर को स्वीकार नही करते। इसलिए साक्षात् श्रीभगवान् की सेवा से प्राप्त दिव्य आनन्द का आस्वादन नहीं कर सकते, क्योंकि वे ब्रह्मज्योति में लीन हो जाते है। उनमे से कुछ, जो निर्विशेषसत्ता मे भी स्थित नहीं हो पाते, वे अपनी सक्रियताविषयक सुप्त

कामना से प्रेरित हुए इस ससार रूपी क्रियाक्षेत्र में पुनरागमन करते हैं। उनका भगवद्धाम में गमन नहीं होता; वरन् प्राकृत लोकों में ही कर्म करने का अवसर उन्हें फिर दिया जाता है। जो सकाम कर्मी हैं, उन्हें श्रीभगवान् यज्ञेश्वर के रूप में कर्म का वाञ्छित फल देते हैं। सिद्धिकामी योगियों की भी अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार सभी प्राणी सफलता के लिए भगवत्कृपा पर आश्रित हैं। वास्तव में परमार्थ की विविध पद्धतियाँ एक ही पथ पर भिन्न-भिन्न मात्रा में प्रगति करने के तुल्य हैं। अतएव कृष्णभावना रूपी चरम कृतार्थता की उपलब्धि से पूर्व सब उद्यम अपूर्ण हैं। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामुदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत्पुरुषं परम्।।

मनुष्य चाहे भक्तों के समान निष्काम हो, अथवा सम्पूर्ण कर्मफल चाहता हो या मोक्ष का अभिलाषी ही क्यों न हो, उसे पूरी सामर्थ्य से श्रीभगवान् की भक्ति ही करनी चाहिए। इससे वह परम सिद्धि प्राप्त हो जायगी, जिसका पर्यवसान कृष्णभावना है। (श्रीमद्भागवत २.३.१०)

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

अनुवाद

कर्मफल की कामना से मनुष्य इस ससार में देवताओं को यज्ञों द्वारा पूजते हैं क्योंकि इस जगत् मे सकामकर्म का फल अतिशीघ्र होता है।।१२।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

प्रकृति के त्रिगुणों और नियत कर्म के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं, परन्तु इस व्यवस्था का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान।।१३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता हैं, सब कुछ उनसे उत्पन्न है, उन्हीं के द्वारा प्रतिपालित है तथा विनाश होने पर उन्हीं के आश्रय मे रहता है। स्पष्टतः वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रणेता हैं। वर्णाश्रम धर्म में सर्वप्रथम बुद्धिवादियों का वर्ग है, जो

सत्त्वगुणी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय, प्रशासनिक वर्ग में रजोगुणी क्षत्रिय आते हैं। वैश्यों में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है तथा शूद्र प्रकृति के तमोगुण में स्थित हैं। मानव समाज में चतुर्वर्ण की सृष्टि करने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण इन सबसे अतीत हैं, क्योंकि वे उन बद्धजीवों के समान नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में है। मानव समाज बहुत सी दृष्टियों से पशु-समाज के सदृश है। अतः पशु स्तर से मनुष्य का उत्थान करने के लिए श्रीभगवान् ने उपरोक्त वर्णाश्रम की रचना की। इस पद्धति के द्वारा शनैः-शनैः कृष्णभावना उद्भावित हो जाती है। कर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति त्रिगुणों के उस अनुपात के अनुसार होती है, जिससे वह युक्त है। गुणो पर आधारित जीवन के उन लक्षणों का वर्णन इस ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष की कोटि ब्राह्मण से भी उत्तम है। गुणों के अनुसार ब्राह्मण को परतत्त्व का ज्ञाता होना चाहिए, परन्तु अधिकांश ब्राह्मण श्रीकृष्ण के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर पाते है। इसलिए जो पुरुष ब्राह्मण के सीमित ज्ञान का लघन करके भगवान् श्रीकृष्ण को जान जाता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है, अर्थात् वैष्णव पद पाता है। कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण के राम, नृसिह, वराह, आदि अंशों के ज्ञान का समावेश है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण मानव समाज की इस वर्णाश्रम व्यवस्था से परे हैं, उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित महापुरुष भी समाज, राष्ट्र, जाति, आदि जगत् के सब भेदों से अतीत हैं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

अनुवाद

मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नही होता क्योंकि मुझे कर्मफल की कामना नहीं है। मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानने वाला भी कर्मफल में लिपायमान नहीं होता। १४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अनुवाद

प्राचीन काल के सब मुमुक्षु पुरुषों ने इसी ज्ञान के साथ कर्म करके मुक्ति-लाभ किया है। अतएव पूर्वजों की भाँति इस बुद्धियोग से युक्त होकर तू भी कर्तव्य का

आचरण कर।।१५।।

तात्पर्य

मनुष्यों की दो कोटियाँ हैं। कुछ का हृदय पूर्णतया विषय-कलुषित है, तो दूसरे विषयैषणा से मुक्त हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। पूर्णतया विषय-दूषित व्यक्ति विधिभक्ति के आचरण द्वारा शनै-शनै. हृदय का परिशोधन करने के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। पहले से विशुद्ध पुरुषों को भी कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में ही तत्पर रहना चाहिए, जिससे उनकी आर्दश क्रियाओं का अनुकरण करके दूसरे भी कल्याण को प्राप्त हो सकें। देखा गया है कि प्राय. मूर्ख व्यक्ति अथवा कनिष्ठ साधक कृष्णभावनामृत को जाने बिना ही कर्म से विरक्त हो जाना चाहते है। रणांगण में कर्म से विरत हो जाने की अर्जुन की इच्छा को श्रीभगवान् ने स्वीकार नहीं किया। कल्याण के लिए कर्म करने की यथार्थ विधि को जानने की आवश्यकता है। कृष्णभावनाभावित कर्म को त्यागकर अलग बैठकर कृष्णभावनामृत का दम्भ करने की अपेक्षा श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए कर्मक्षेत्र मे तत्पर रहना कहीं उत्तम है। इस श्लोक में अर्जुन को यह परामर्श दिया गया है कि वह सूर्यदेव आदि पूर्ववर्ती भगवद्भक्तों के चरणचिन्हों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनाभावित कर्म करे। भगवान् श्रीकृष्ण को उन सब कर्मों की स्मृति है जो उन्होंने और उनके भक्तों (कृष्णभावनाभावित पुरुषों) ने पूर्व में किये थे। इसलिए वे सूर्यदेव के कार्य की स्तुति कर रहे हैं. जिसने करोड़ों वर्ष पूर्व उन्हीं से यह विद्या सीखी थी। भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के सब शिष्यों को यहाँ पूर्व में होने वाले मुक्तपुरुष कहा गया है, जो श्रीकृष्ण की आज्ञा रूपी कर्तव्य के पालन में तत्पर रहे। भाव यह है कि अर्जुन भी सूर्यदेव आदि महानुभावों का अनुगमन करता हुआ कृष्णभावनाभावित कर्म करे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

अनुवाद

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस प्रकार निर्णय करने में बुद्धिमान् भी मोहित हैं। इसलिए मैं तेरे लिए उस कर्मतत्त्व का वर्णन करूँगा, जिसे जान कर तू सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जायगा।।१६।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

अनुवाद

कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को भलीभाँति जानना चाहिए, क्योंकि कर्म का तत्त्व अति गहन है।।१७।।

तात्पर्य

भवबन्धन से मुक्ति के साधन में गम्भीरतापूर्वक तत्पर मनुष्य के लिए कर्म, अकर्म और विकर्म के भेद को जान लेना आवश्यक है। कर्म, अकर्म एव विकर्म के सम्बन्ध में गम्भीर स्वाध्याय अपेक्षित है, क्योंकि यह अतिशय गहन तत्त्व है। कृष्णभावनाभावित कर्म और गुणों के अनुसार किये जाने वाले कर्म में भेद को जानने के लिए श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को जानना होगा। भाव यह है कि जो पूर्ण विद्या से युक्त है, वह जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का नित्यदास है और इस कारण कृष्णभावनाभावित कर्म करना जीवमात्र का कर्तव्य है। सम्पूर्ण भगवद्गीता का यही लक्ष्य है। इस भावना का विरोध करने वाले अन्य सब निष्कर्ष एवं परिणाम 'विकर्म' हैं। इस सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान के लिए कृष्णभावना के प्रामाणिक आचार्यों का सत्संग करके उनसे यह रहस्य हृदयगम करे। ऐसा करना साक्षात् श्रीभगवान् से शिक्षा ग्रहण करने जैसा कल्याणकारी है। महाभागवत के आश्रय के बिना तो बड़े से बड़ा बुद्धिमान् भी मोहित हो जाता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

अनुवाद

जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सब प्रकार के कर्मों मे प्रवृत्त होने पर भी मुक्त ही है।।१८।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला स्वभावत सम्पूर्ण कर्मबन्धनो से मुक्त रहता है। उसके सम्पूर्ण कार्य श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए हैं। इसलिए वह किसी भी प्रकार का कर्मजन्य सुख-दुःख नहीं भोगता। श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही सब कर्म करने के कारण वह मनुष्यो मे बुद्धिमान् है। 'अकर्म', अर्थात् कर्मफल से रहित। निर्विशेषवादी इस भयवश सकाम-कर्म से निवृत्त हो जाता है कि कही कर्मफल से मुक्तिपथ मे व्यवधान उपस्थित न हो जाय। भक्त को नित्य भगवत्-दास के रूप मे अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, इसलिए वह कृष्णभावनाभावित क्रियाओ में

नित्य तत्पर रहता है। सभी कुछ श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए किया जाता है, इससे वह उस सेवा में केवल चिन्मय आनन्द ही आनन्द का अनुभव करता है। इस पद्धति में निष्ठ भक्त निजेन्द्रिय-तृप्ति की कामना से पूर्ण मुक्त है। 'मैं श्रीकृष्ण का नित्य दास हूँ', यह भाव सब कर्मफलों से मुक्त कर देता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अनुवाद

जिसके सब कर्म इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित हैं, उसको पूर्ण ज्ञानी समझा जाता है। उस पुरुष के कर्मफल ज्ञानरूप अग्नि में भस्म हो जाते हैं, ऐसा ऋषियों का कहना है।।१९।।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

अनुवाद

कर्मफल की आसक्ति को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर नित्यतृप्त और स्वतन्त्र पुरुष सब कर्म करता हुआ भी कभी कोई सकाम कर्म नहीं करता।।२०।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

अनुवाद

ऐसा ज्ञानी पुरुष, जिसने मन बुद्धि को पूर्ण रूप से वश में करके और अपनी सम्पूर्ण सामग्री में स्वामीपन के भाव को त्याग दिया है, केवल शरीरधारण के लिए कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।।२१।।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

अनुवाद

अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट, द्वन्द्वों और ईर्ष्या दोष से मुक्त तथा सिद्धि और असिद्धि को समान समझने वाला पुरुष कर्म करने पर भी नहीं बँधता।।२२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष शरीरधारण के लिए भी विशेष उद्यम नहीं करता, स्वयंप्राप्त लाभ में ही सन्तुष्ट रहता है। वह याचना अथवा ऋण नहीं लेता, वरन् यथासामर्थ्य उद्यम करता है और सद्वृत्ति से जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसी में परितृप्त रहता है। इस प्रकार अपनी जीविका के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्र है, इसलिए किसी दूसरे की सेवा को अपने कृष्णभावनाभावित सेवा-कार्य में व्यवधान उपस्थित नहीं करने देता। दूसरी ओर, भगवत्सेवा के लिए संसार के द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना वह किसी भी कर्म में प्रवृत्त हो सकता है। सांसारिक द्वन्द्वों का अनुभव शीत-ग्रीष्म, सुख-दुःखादि के रूप में होता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष द्वन्द्वों से मुक्त रहता है, कारण वह श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कुछ भी कर्म करने में संकोच नहीं करता। इसीलिए सिद्धि तथा असिद्धि दोनों में वह समभाव रखता है। पूर्ण ज्ञानी में ये सब लक्षण प्रकट रहते हैं।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अनुवाद

जो पुरुष प्रकृति के गुणों में आसक्त नहीं है और पूर्णज्ञान में स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म अप्राकृत तत्त्व मे विलीन हो जाते हैं।।२३।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना।।२४।।

अनुवाद

जो कृष्णभावना में पूर्ण मग्न है, उस पुरुष के लिए भगवद्धाम की प्राप्ति निश्चित है, वह उन ब्रह्मरूप क्रियाओं के परायण रहता है, जिनमें ब्रह्म ही अग्निरूपी गति है और अर्पित हवि भी ब्रह्ममय है।।२४।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित क्रियाओं के द्वारा अन्त मे किस प्रकार भगवद्धाम की प्राप्ति हो जाती है, यह इस श्लोक में कहा गया है। कृष्णभावनाभावित क्रियाये नाना प्रकार की हैं, जिनका अनुवर्ती श्लोकों में उल्लेख किया जायगा। उससे पूर्व, इस श्लोक में कृष्णभावनामृत के सिद्धान्त का निरूपण है। प्राकृत विकारों से युक्त बद्धजीव भव-परिवेश में कर्म किये बिना नहीं रह सकता, यह निश्चित है। अतएव भवमोचन

के लिए उसे इस परिधि से मुक्त होना है। कृष्णभावना वह पद्धति है जिसके द्वारा जीव भव-परिवेश से मुक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, दुग्ध-पदार्थों के अतिसेवन से हुई अपच एक अन्य दुग्ध-पदार्थ, दही के सेवन से ठीक हो जाती है। ऐसे ही, विषयासक्त बद्धजीव यहाँ गीता में प्रतिपादित कृष्णभावनामृत-योग के द्वारा भवरोग से मुक्त हो सकता है। साधारणतया इस पद्धति को यज्ञ अर्थात् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) की प्रसन्नता के लिए कर्म करना कहते हैं। लौकिक कार्यों को जितना अधिक कृष्ण-भावनाभावित होकर, अर्थात् श्रीविष्णु की प्रीति के लिए किया जायगा, पूर्ण तन्मयता के फलस्वरूप पर्यावरण उतना ही अधिक चिन्मय कृष्णभक्तिरस से परिप्लावित होगा। 'ब्रह्म' शब्द अप्राकृत तत्त्व का वाचक है। श्रीभगवान् सच्चिदानन्दघन हैं; उनके श्रीविग्रह से निस्सृत किरणराशि ब्रह्मज्योति कहलाती है। उसी ब्रह्मज्योति में सब कुछ स्थित है। मायाच्छन्न हो जाने पर उसे प्राकृत (भौतिक) कहा जाता है। इस प्राकृत आवरण को कृष्णभावनामृत से तत्काल हटाया जा सकता है। अतएव कृष्णभावना के लिए अर्पित हवि, ग्रहणकर्ता, अर्पणक्रिया, अर्पणकर्ता और यज्ञफल —ये सभी समवेत रूप मे ब्रह्मतत्त्व है। मायाछन्न ब्रह्म ही जड़ प्रकृति कहलाता है और परब्रह्म की सेवा में नियोजित प्रकृति फिर दिव्यता को प्राप्त हो जाती है। अतएव कृष्णभावना के अनुशीलन से मायाच्छादित चेतना अपने ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती है। चित्त का कृष्णभावना मे पूर्णरूप से तन्मय हो जाना समाधि है। इस भगवन्निष्ठ मति (बुद्धियोग) से युक्त होकर जो भी कर्म किया जाता है, वह 'यज्ञस्वरूप' है। ऐसे भगवद्भाव में अर्पणकर्ता, अर्पित हवि, अर्पण-क्रिया, होता और यज्ञफल अर्थात् अन्तिम लाभ—सभी कुछ परब्रह्म में एकत्व को प्राप्त हो जाता है। यही कृष्णभावना की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

अनुवाद

दूसरे योगी नाना यज्ञो के द्वारा देवताओ की भलीभाँति उपासना करते हैं, जबकि अन्य ज्ञानीजन परब्रह्मरूपी अग्नि में आहुति देते हैं।।२५।।

तात्पर्य

पूर्व वर्णन के अनुसार, कृष्णभावना मे कर्तव्य का पालन करने वाला परमयोगी है। परन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवोपासना के लिए यजन करते हैं और परमेश्वर श्रीकृष्ण के निराकार तत्त्व से निमित्त यज्ञ करने वाले भी हैं। अतः विविध श्रेणियों के

अनुसार भिन्न-भिन्न यज्ञ किये जाते हैं। कर्ताभेद के अनुसार कल्पित नाना यज्ञ-श्रेणियाँ केवल बाह्यरूप से यज्ञों का वर्गीकरण करती हैं। यथार्थ यज्ञ का एकमात्र तात्पर्य तो 'यज्ञ' नामक परमेश्वर श्रीविष्णु का सन्तोष है। यज्ञों के मुख्य रूप से दो वर्ग हैं—द्रव्ययज्ञ और ज्ञानयज्ञ। कृष्णभावनाभावित महापुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए सर्वस्वत्याग कर देते है, जबकि क्षणिक प्राकृत सुख के अभिकांक्षी अन्य मनुष्य इन्द्र, सूर्यादि को प्रसन्न करने के लिए अपनी लौकिक सम्पत्ति का यजन करते है। इनके अतिरिक्त, निर्विशेषवादी तो निराकार ब्रह्म में विलीन होकर स्वरूप का ही यजन कर डालते हैं। देवताओं को ब्रह्माण्डीय तेज, जल, प्रकाशादि प्राकृत क्रियाओं की व्यवस्था के लिए श्रीभगवान् ने नियुक्त किया है। फिर भी भोगों के अभिलाषी वैदिक कर्मकाण्डमय यज्ञों के द्वारा देवोपासना करते हैं। इस कोटि के मनुष्य 'बहवीश्वरवादी' कहलाते हैं। दूसरी ओर, निर्विशेषवादी देव-वपुओं को अनित्य मानते हुए ब्रह्माग्नि में अपने स्वरूप का ही यजन कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ये निर्विशेषवादी ब्रह्मतत्त्व के चिन्मय स्वरूप को जानने के लिए दार्शनिक मनोधर्म के परायण रहते हैं। इस प्रकार, सकाम कर्मी इन्द्रियतृप्ति के लिए लौकिक स्वत्व का यजन करते हैं, और निर्विशेषवादी ब्रह्म में विलय के लिए अपनी प्राकृत उपाधियों का यजन करता है। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परब्रह्म है एवं ब्रह्माग्नि में स्वरूप विलय होना यज्ञार्पण है। परन्तु अर्जुन की श्रेणी के कृष्णभावनाभावित भक्त श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए अपने सर्वस्व का अर्पण कर देते है। इस प्रकार आत्मस्वरूप सहित भक्त का सब कुछ श्रीकृष्ण की प्रीति-सम्पादन में समर्पित रहता है। अतएव भक्त परम योगी हैं; परन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अनुवाद

उनमें से कुछ श्रवणादि क्रियाओं और इन्द्रियों का चित्तसयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं तो दूसरे शब्दादि इन्द्रियविषयों का इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन करते हैं।।२६।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अनुवाद

दूसरे, जो मन और इन्द्रियों का संयम कर के स्वरूप-साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे सम्पूर्ण इन्द्रिय और प्राण क्रियाओं का चित्तसंयमरूपी अग्नि में यजन करते हैं।।२७।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य कठोर तप मे अपनी सम्पत्ति का त्याग करने से प्रबुद्ध होकर दृढ व्रत धारण कर के अष्टांगयोग का अभ्यास करते हैं, जबकि और दूसरे ज्ञानप्राप्ति के लिए वेद का स्वाध्याय करते हैं।।२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।।२९।।

अनुवाद

दूसरे मनुष्य समाधि के लिए प्राणायाम के परायण रहते है। वे अपान में प्राण का और प्राण में अपान को रोकने का अभ्यास करते हैं और अन्त में प्राण-अपान की गति को पूर्णरूप से रोककर समाधि मे स्थित हो जाते है। दूसरे सयमित भोजन करने वाले योगी प्राण का प्राण मे ही हवन किया करते है।।२९।।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।३०।।

अनुवाद

ये सभी यज्ञ करने वाले, जो यज्ञों का तात्पर्य जानते हैं, पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं और इन यज्ञों के प्रसादरूप अमृत का आस्वादन करके शाश्वत् परमधाम को प्राप्त करते हैं।।३०।।

तात्पर्य

द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, योगयज्ञ आदि विविध यज्ञों के पूर्व वर्णन से ज्ञात होता है कि इन सभी का उद्देश्य इन्द्रियों को वश में करना है। भवरोग का मूल कारण इन्द्रियतृप्ति-परायणता है; अतएव इन्द्रियतृप्ति से ऊपर उठे बिना सच्चिदानन्द-

तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह शाश्वत् ब्रह्म-परिवेश का स्तर है। पूर्वोक्त यज्ञ प्रापञ्चिक जीवन में बनने वाले अपकर्मों से कर्ता का शोधन करते हैं। इस आत्मोन्नति के द्वारा केवल इस जीवन में ही सुख-वैभव की प्राप्ति नहीं होती, वरन् अन्त में यथायोग्य निर्विशेष ब्रह्मैक्य अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के सान्निध्य में भगवद्धाम की प्राप्ति भी हो जाती है।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

अनुवाद

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ न करने वाले के लिए यह लोक अथवा यह जीवन भी सुखदायक नहीं, फिर परलोक कैसे होगा?।।३१।।

तात्पर्य

जीव भवसागर की किसी भी योनि में क्यों न हो, अपना यथार्थ स्वरूप उसे अज्ञात ही रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने पिछले पापमय जीवनो के फलस्वरूप ही हमें संसार-बन्धन की प्राप्ति हुई है। पापमय जीवन का कारण अज्ञान है और जब तक जीवन पापपूर्ण रहता है, तब तक भवरोग निरन्तर बना रहता है। इस बन्धन-चक्र से मुक्ति का एकमात्र द्वार मानव शरीर है। अतएव धर्म, अर्थ, मर्यादित काम और अन्त में इस दु:खालय से पूर्ण मुक्ति का पथ प्रशस्त करके वेद हमें मोक्ष-प्राप्ति का अवसर प्रदान करते हैं। धर्मपथ से अथवा उपरोक्त नाना यज्ञो के द्वारा आर्थिक समस्याओं का अपने-आप समाधान हो जाता है। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ करने से अन्न, दुग्धादि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। शरीर के पोषण के बाद स्वभावत: इन्द्रियतृप्ति का स्थान आता है। इसलिए वेदों में संयमित इन्द्रियतृप्ति के लिए धर्मसम्मत विवाह का विधान है। इससे मनुष्य शनै:-शनै: भवबन्धन से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति की परम सिद्धि श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने में है। पूर्व कथन के अनुसार, यज्ञ से कृतकृत्यता हो जाती है। इस पर भी यदि कोई वेद के अनुसार यज्ञ नहीं करे तो वह सुखी जीवन की आशा किस प्रकार कर सकता है? विभिन्न स्वर्गीय लोकों में प्राकृत सुख के अलग-अलग स्तर हैं। अत: सभी दृष्टियों से यज्ञ करने वाले को प्रचुर सुख की उपलब्धि होती है। परन्तु मानव का सर्वोच्च सुख तो कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा भगवद्धाम को प्राप्त कर लेना, है। जीवन के कृष्णभावनाभावित हो जाने से भवसागर के सम्पूर्ण दु:ख दूर हो जाते हैं।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

अनुवाद

वेदों मे वर्णित इन सभी यज्ञों को कर्म से उत्पन्न जान। इस प्रकार यज्ञतत्त्व को जान कर तू संसार से मुक्त हो जायगा।।३२।।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अनुवाद

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ उत्तम है, क्योंकि हे पार्थ! सब कर्मों का पर्यवसान दिव्यज्ञान ही है।।३३।।

तात्पर्य

सब यज्ञों का बस यही प्रयोजन है कि जीव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो, जिससे वह भवरोग के दुःखों से मुक्त होकर अन्त में भक्तियोग के परायण हो जाय। तब भी ये विविध यज्ञ क्रियायें रहस्यमयी हैं। यह रहस्य मनुष्यमात्र के लिए जानने योग्य है। कर्ता की श्रद्धा के अनुपात में यज्ञों के विविध रूप हैं। जब यजनकर्ता की श्रद्धा ज्ञान के स्तर पर पहुँच जाय, तो उसे ज्ञानरहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि ज्ञानशून्य यज्ञ प्राकृत स्तर पर हैं, वे कल्याण-प्राप्ति मे सहायक सिद्ध नहीं हो सकते। यथार्थ ज्ञान का पर्यवसान कृष्णभावना है, जो ब्रह्मविद्या की पराकाष्ठा है। ज्ञान के बिना यज्ञ लौकिक क्रियामात्र रह जाता है। परन्तु ज्ञान के साथ ऐसी सब क्रियाएँ दिव्यता प्राप्त कर लेती है। मतिभेद के आधार पर यज्ञक्रियाओ को कर्मकाण्ड (सकामकर्म) अथवा ज्ञानकाण्ड (सत्यजिज्ञास) कहा जाता है। अस्तु, वही यज्ञ श्रेष्ठ है, जिससे अन्त में ज्ञान की प्राप्ति हो जाय।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

अनुवाद

सद्गुरु के शरणागत होकर दण्डवत् प्रणाम, विनम्र जिज्ञासा और निष्कपट भाव से उनकी सेवा करके उस तत्त्व को जान। वे तत्त्व को जानने वाले आत्मज्ञानी महापुरुष तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे।।३४।।

तात्पर्य

भगवत्प्राप्ति का मार्ग निःसन्देह कठिन है। अतएव श्रीभगवान् का परामर्श है

कि उनसे प्रारम्भ हुई शिष्यपरम्परा के प्रामाणिक आचार्य की शरण ग्रहण करे। शिष्यपरम्परा के इस सिद्धान्त का उल्लंघन करने वाला यथार्थ गुरु नहीं हो सकता। श्रीभगवान् सबके आदिगुरु हैं, इसलिए उनकी परम्परा के आचार्य अपने शिष्य को यथार्थ भगवत्-तत्त्व का ज्ञान करा सकते हैं। मूर्ख पाखण्डियों की परिपाटी के अनुसार स्वनिर्मित पद्धति का अनुसरण करके कोई भगवत्प्राप्ति नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवत की प्रामाणिक उक्ति है— **धर्मं हि साक्षात्भगवत्प्रणीतम्** 'धर्मपथ का निर्णय स्वय श्रीभगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म अथवा शुष्क तर्क भगवत्प्राप्ति के पथ में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। ज्ञान के लिए यथार्थ सद्गुरु की शरण का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे, और मिथ्या अहकार को त्यागकर सेवक की भाँति उनकी परिचर्या में रात-दिन निष्ठ रहे। आत्मज्ञानी सद्गुरु का सतोष ही भगवत्प्राप्ति के पथ में द्रुत प्रगति करने की गुप्त कुञ्जी है। जिज्ञासा तथा आज्ञानुगमन, ये दोनों ज्ञानप्राप्ति के लिए उपयुक्त साधन हैं। आज्ञापालन एव सेवाभाव के अभाव मे विद्वान् सद्गुरु से की गयी तत्त्वजिज्ञासा प्रभावोत्पादक नही होगी। शिष्य के लिए गुरु की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना आवश्यक है। जब गुरु देखते है कि शिष्य मे यथार्थ पारमार्थिक जिज्ञासा का उदय हो गया है, तो कृपापूर्वक उसके हृदय-प्रागण में यथार्थ ज्ञान का सचार कर देते है। इस श्लोक में अन्धानुकरण एवं अनर्गल जिज्ञासा, इन दोनों की निन्दा है। गुरुदेव के शरणागत होकर उनसे श्रवण ही नही करे, वरन् आज्ञानुगमन, सेवा और जिज्ञासा के द्वारा उनसे विशद ज्ञान भी प्राप्त करे। यथार्थ सद्गुरु स्निग्ध शिष्य पर स्वभावत· अतिशय कृपा का परिवर्षण किया करते है। अतएव जब शिष्य विनीत आज्ञानुवर्ती सेवा मे निरन्तर तत्पर रहता है, तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय (आदान-प्रदान) पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

अनुवाद

हे अर्जुन! उस ज्ञान के हो जाने पर तू फिर इस प्रकार मोह को कभी प्राप्त नहीं होगा; साथ ही यह जान जायगा कि सब जीव मेरे भिन्न-अंश हैं और मुझ में ही स्थित है।।३५।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

अनुवाद

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञानरूपी तरणी द्वारा इस दुःखसागर से अच्छी प्रकार तर जायगा।।३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अनुवाद

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओं के सम्पूर्ण बन्धनो को जला डालती है।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

अनुवाद

इस संसार मे ज्ञान के समान उदात्त (प्रभविष्णु) और पवित्र कुछ भी नही है। यह ज्ञान सम्पूर्ण योग का परिपक्व फल है। इसे प्राप्त मनुष्य यथासमय अपने आत्मस्वरूप का आस्वादन करता है।।३८।।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

अनुवाद

जो पुरुष श्रद्धावान् है, जितेन्द्रिय है और ज्ञान मे लीन है, वह तत्काल परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।।३९।।

तात्पर्य

कृष्णभावना का ज्ञान श्रीकृष्ण में दृढ़ श्रद्धावान् को ही प्राप्त हो सकता है। श्रद्धावान् वही है जिसे यह विश्वास हो कि केवल कृष्णभावनाभावित कर्म करने से वह परम सिद्धि को प्राप्त हो जायगा। श्रद्धा की उद्भावना भक्तियोग एव **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** —इस महामन्त्र के कीर्तन से होती है जो सम्पूर्ण विषयवासना से चित्त का परिमार्जन कर देता है। इसके साथ, इन्द्रियसयम भी अनिवार्य है। श्रीकृष्ण में श्रद्धावान् जितेन्द्रिय पुरुष अविलम्ब कृष्णभावनारूप ज्ञान की कृतार्थता को सुगमता से प्राप्त हो जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अनुवाद

परन्तु सद्शास्त्रों में संशययुक्त, अज्ञानी और अश्रद्धालु मनुष्यों को भगवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती। संशयात्मा के लिए तो इस लोक में अथवा परलोक में भी कोई सुख नहीं है।।४०।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

अनुवाद

इसलिए हे धनंजय! जिसने कर्मफल का त्याग, अर्थात् श्रीभगवान् को अर्पण कर दिया है और विवेक द्वारा सब संशयों का नाश कर दिया है, उस आत्मपरायण पुरुष को कर्म नहीं बाँधते।।४१।।

तात्पर्य

जो मनुष्य भगवद्गीता की शिक्षा का उसी रूप में अनुसरण करता है जैसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने उसका प्रवचन किया, वह दिव्य ज्ञान की कृपा से सब संशयों से मुक्त हो जाता है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित होने के प्रभाव से उसे श्रीभगवान् के भिन्न-अंश के रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव वह निस्सन्देह कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

अनुवाद

अतएव हे भरतवंशी अर्जुन! हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशय का ज्ञानरूप शस्त्र से छेदन कर डाल और फिर योग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा।।४२।।

तात्पर्य

इस अध्याय में उपदिष्ट योगमार्ग 'सनातनयोग' अर्थात् 'जीवात्मा की नित्य क्रिया' कहलाता है। इस योग में दो प्रकार के यज्ञकर्म किए जाते हैं—स्वत्व-त्यागमय द्रव्ययज्ञ एवं शुद्ध आत्मज्ञानयज्ञ। यदि द्रव्ययज्ञ को भगवत्प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया जाय तो वह प्राकृत यज्ञ बन कर रह जायगा। परन्तु यदि इन्हीं यज्ञों को

आध्यात्मिक लक्ष्य से अथवा भक्तिभाव से किया जाता है तो ये सर्वांगीण पूर्ण हो जाते हैं। आध्यात्मिक क्रियाओं की भी दो कोटियाँ हैं—स्वरूप-बोध एवं भगवान् के तत्त्व का बोध। गीता के यथार्थ पथ का अनुगामी ज्ञान के इन दोनों वर्गों को बड़ी सुगमता से आत्मसात् कर लेता है। जीवात्मा श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है—इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति मे उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होती। यह ज्ञान परम कल्याणकारी है, क्योंकि इसके ज्ञाता को श्रीभगवान् की दिव्य लीला के तत्त्व का सहज में बोध हो जाता है। अध्याय के आदि मे श्रीभगवान् ने अपनी अलौकिक अतिमानवीय लीला का वर्णन किया है। जो गीतोपदेश को नहीं समझ सकता, वह अश्रद्धालु है और श्रीभगवान् से प्राप्त आंशिक स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर रहा है। जो मनुष्य इस शिक्षा की प्राप्ति के बाद भी श्रीभगवान् के सच्चिदानन्दमय यथार्थ स्वरूप को नहीं समझ सकता, वह निस्सन्देह प्रथम श्रेणी का मूढ है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को शनैः-शनैः स्वीकार करने से ही अज्ञान का अन्त हो सकता है। कृष्णभावनामृत देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्ययज्ञ, गृहस्थपालनरूप यज्ञ, इन्द्रिय-निग्रहयज्ञ, योगाभ्यासयज्ञ, तपयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याययज्ञ तथा वर्णाश्रम धर्म के पालन आदि के द्वारा जागृत होती है। 'यज्ञ' कहलाने वाली ये सभी क्रियाएँ नियत कर्मों पर आधारित है। परन्तु इन सब का सार स्वरूप-साक्षात्कार है। उसका जिज्ञासु ही भगवद्गीता का यथार्थ शिष्य है, पर श्रीकृष्ण के प्रामाण्य में संशय करने वाले का अवश्य पतन हो जाता है। अतः भगवद्गीता अथवा अन्य शास्त्रों का अध्ययन यथार्थ सद्गुरु के आश्रय में सेवामय प्रपन्नभाव से ही करना योग्य है। चिरन्तनकाल से चली आ रही शिष्यपरम्परा के पद पर आसीन गुरु ही प्रामाणिक हैं। वे श्रीभगवान् की उस शिक्षा से लेशमात्र भी च्युत नहीं होते, जिसका उपदेश उन्होने करोडो वर्ष पूर्व सूर्यदेव को किया था। सूर्य से ही 'गीतोपदेश' इस धराधाम पर अवतरित हुआ। अतएव भगवद्गीता के उसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। साथ ही, उन स्वार्थपरायण व्यक्तियों से नित्य सजग रहे जो दूसरो को सन्मार्ग से भ्रष्ट करते है। श्रीभगवान् निश्चित् रूप से परम पुरुषोत्तम है तथा उनका लीला-विलास अप्राकृत है, जो इस सत्य को हृदय में धारण कर लेता है, वह गीताध्ययन के उपक्रम से ही जीवन्मुक्त हो जाता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये चतुर्थोऽध्यायः।।

अथ पंचमोऽध्याय:



कर्मसंन्यासयोग

(कृष्णभावनाभावित कर्म)

अर्जुन उवाच ।
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा हे कृष्ण ! पहले आप मुझे कर्मों का सन्यास करने को कहते है और फिर भक्तिभावित कर्म की प्रशंसा करते है। इसलिये अब कृपापूर्वक इन दोनों मे से जो एक निश्चित किया हुआ कल्याणकारी साधन हो, वह मेरे लिये कहिये ।।१।।

श्रीभगवानुवाच ।
संन्यासः कर्मयोगश्च नि:श्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, कर्मों का संन्यास और भक्तिभावित कर्मयोग दोनो ही कल्याणकारी हैं। परन्तु इन दोनों में भी, भक्तिभावित कर्मयोग कर्मसन्यास से श्रेष्ठ है।।२।।

तात्पर्य

इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली सकाम क्रियाओ से भवबन्धन होता है। जब तक जीव शारीरिक सुख के लिए क्रियाओं में प्रवृत्त है, तब तक विविध योनियों में उसका देहान्तर मिट नहीं सकता। इस प्रकार भवबन्धन सदा बना रहेगा। यह श्रीमद्भागवत से भी प्रमाणित है·

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्मः यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽयमसन्नपि क्लेशद आस देहः।।
पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः।।
एवं मनः कर्मवशं प्रयुंक्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्।।

'साधारण लोग इन्द्रियतृप्ति के लिये उन्मत्त हो रहे है। वे नही जानते कि यह क्लेशमयी देह उनके पूर्वकृत सकाम कर्मों का फल है। नश्वर होने के साथ ही यह निरन्तर नाना प्रकार से कष्ट देती है। अतः इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करना श्रेयस्कर नही है। सकाम कर्म की तत्त्वजिज्ञासा न करने वाले को जीवन में परास्त समझा जाता है, क्योंकि जब तक जीव इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहता है, तब तक उसे बारम्बार देहान्तर की प्राप्ति होती ही रहती है। मनके सकाम कर्मों में आसक्त और अज्ञानग्रस्त होने पर भी श्रीवासुदेव की भक्ति में ,प्रीतिभाव का वर्धन करता ही रहे, तभी शरीरबन्धन से मुक्ति सुलभ होगी।'' (श्रीमद्भागवत ५.५.४-६)

अत· मुक्ति के लिये केवल ज्ञान (देह से अतीत आत्मतत्त्व का बोध) पर्याप्त नहीं है। जीवात्मा के स्वरूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा भवबन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म सकाम कर्म के समान नहीं होता। ज्ञानमय कर्म तो वस्तुत यथार्थ ज्ञान में प्रगति को दृढ़ करना है। कृष्णभावना के अभाव में सकाम कर्मों का संन्यास मात्र बद्धजीव के हृदय को यथार्थ रूप में स्वच्छ नहीं कर पाता और जब तक हृदयमार्जन नहीं हो जाता, तब तक सकाम कर्म बनते ही रहते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म साधक को कर्मबन्धन से स्वतः मुक्त कर देता है, जिससे उसे फिर प्राकृत स्तर पर नहीं उतरना पड़ता। अतएव

कृष्णभावनाभावित कर्म सन्यास से सदा उत्तम है, क्योंकि संन्याम में भी पतन का भय नित्य बना रहता है। कृष्णभावनाशून्य वैराग्य अपूर्ण है, जैसा श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में प्रमाणित किया है —

प्रापंचिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
मुमुक्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते।।

'मुमुक्षुओं का श्रीभगवान् से सम्बन्धित वस्तुओं को प्रापञ्चिक समझकर त्याग देना अपूर्ण वैराग्य कहा जाता है।' वैराग्य पूर्णता को तब प्राप्त होता है जब वह इस ज्ञान से युक्त हो कि जो कुछ भी विद्यमान वस्तु है, वह श्रीभगवान की ही है, अत· जीव को किसी भी वस्तु पर अधिकार का भाव नही रखना चाहिये। यह वस्तुत समझ ले कि अपना कुछ भी नही है। इस निष्किञ्चन अवस्था में त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जो यह जानता है कि सब कुछ श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, वह नित्य वैराग्यवान् है। सब कुछ श्रीकृष्ण का है, इसलिए सब वस्तुओं को श्रीकृष्णसेवा मे ही लगाना चाहिए। यह शुद्ध कृष्णभावनाभावित कर्म मायावादी सन्यासियो के उत्कट से उत्कट कृत्रिम वैराग्य से कहीं उत्तम है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

अनुवाद

जो पुरुष न तो कर्मफल से द्वेष करता और न कर्मफल की इच्छा करता, उसे नित्य सन्यासी ही जानना चाहिए, क्योकि हे महाबाहु! ऐसा निर्द्वन्द्व मनुष्य सुखपूर्वक भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।।३।।

तात्पर्य

पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष नित्य संन्यासी है, क्योंकि उसमे अपने कर्मफल के प्रति द्वेष अथवा कामना का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अलौकिक भक्तियोग के परायण ऐसे सन्यासी को पूर्ण ज्ञानी जानना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपने स्वरूप को जानता है। वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण अंशी हैं और वह उनका भिन्न-अंश है। यह ज्ञान पूर्ण है, क्योंकि इसमें यह सत्य स्पष्ट झलकता है कि चिद्गुणों में श्रीकृष्ण और जीवो मे अभेद है और विस्तार में भेद है। श्रीकृष्ण से जीव के एक होने की धारणा भ्रान्तिमूलक है; वह अंशी के बराबर कभी नहीं हो सकता। जीव चिद्गुणों में श्रीभगवान् से अभिन्न है,

किन्तु विस्तार मे भिन्न है—इस यथार्थ ज्ञान के द्वारा आकांक्षा और शोक से मुक्त आत्मतुष्टि की प्राप्ति होती है। ऐसे ज्ञानी के चित्त में द्वन्द्वों का अत्यन्त अभाव हो जाता है, क्योंकि वह जो कुछ भी करता है, श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही करता है। द्वन्द्वातीत हो जाने से इस प्राकृत-जगत् में रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

अनुवाद

अज्ञानी ही भक्ति और भक्तिभावित कर्मयोग को सांख्ययोग से भिन्न कहते हैं। यथार्थ विद्वानों का तो कहना है कि इनमें से एक मार्ग का भी भलीभाँति अनुसरण करने वाला दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।।४।।

तात्पर्य

सांख्य का उद्देश्य जीवन की आत्मा को प्राप्त करना है। परमात्मा विष्णु ही प्राकृत-जगत् की आत्मा हैं। भक्तियोग का अर्थ उन्हीं परमात्मा की सेवा करना है। परमार्थ की एक पद्धति में वृक्ष के मूल का अन्वेषण किया जाता है, जबकि दूसरी मे जल से उसका अभिसिञ्चन किया जाता है। सांख्यदर्शन का यथार्थ विद्यार्थी जगत् के मूल—श्रीविष्णु को जानकर और फिर पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर उनकी सेवा में प्रवृत्त हो जाता है। सारांश में, दोनों पद्धतियों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों के आराध्य श्रीविष्णु हैं। अतएव परम लक्ष्य को न जानने वाले मनुष्य ही सांख्य तथा कर्मयोग के प्रयोजन में भेद करते हैं। यथार्थ पण्डितजन इन पृथक्-पृथक पद्धतियों के समीकृत (एकाकार) लक्ष्य को जानते हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

अनुवाद

जो यह जानता है कि संन्यास से प्राप्त होने वाला स्थान भक्तिभावित कर्म से भी प्राप्त हो सकता है और इसलिए जो कर्मयोग तथा संन्यासपथ को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।।५।।

तात्पर्य

दार्शनिक गवेषणा का यथार्थ प्रयोजन जीवन के परम लक्ष्य को पाना है। जीवन का परम लक्ष्य स्वरूप-साक्षात्कार है; इसलिए दोनों पद्धतियों से एक ही तत्त्व की

उपलब्धि होती है। सांख्यदर्शन से यह निर्णय होता है कि जीवात्मा प्राकृत-जगत् का नहीं, वरन् अंशी श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतएव आत्मा का प्राकृत-जगत् से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, उसके कर्म श्रीभगवान् से ही सम्बद्ध होने चाहिए। जब वह कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, तो अपने यथार्थ स्वरूप में रहता है। सांख्यरूपी साधन में प्रकृति से अनासक्त होना होता है और भक्तियोग की पद्धति मे श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए कर्मों में आसक्ति का सेवन करना है। अतः दोनों पद्धतियाँ एक ही हैं। केवल बाह्य दृष्टि से लगता है कि एक पद्धति में अनासक्ति का अभ्यास करना है और दूसरी में आसक्ति का। प्रकृति से अनासक्ति तथा श्रीकृष्ण में आसक्ति एक ही वस्तु है। जो इस दृष्टि से युक्त है, वही यथार्थ तत्त्वदर्शी है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

अनुवाद

भक्तियोग के बिना केवल कर्मसंन्यास द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु भक्तिभावित कर्म से शुद्ध हुए ऋषिजन श्रीभगवान् को अति शीघ्र प्राप्त कर लेते है।।६।।

तात्पर्य

संन्यासी दो प्रकार के होते है—एक मायावादी, दूसरे वैष्णव। मायावादी सांख्यदर्शन के स्वाध्याय मे लगे रहते हैं तथा वैष्णव सन्यासी वेदान्तसूत्र के सच्चे भाष्य—श्रीमद्भागवत-दर्शन का अध्ययन करते हैं। मायावादी संन्यासी वेदान्तसूत्र का अध्ययन तो करते है, परन्तु वे केवल शंकराचार्य द्वारा रचित अपने सम्प्रदाय के शारीरक भाष्य को उपयोग में लाते हैं। दूसरी ओर, भागवतधर्म के अनुयायी पाँचरात्रिक की विधि के अनुसार भगवद्भक्ति मे संलग्न रहते हैं। वैष्णव सन्यासी वास्तव मे चिन्मय भगवद्भक्ति मे नाना कार्य करते है। वैष्णव सन्यासियों को सांसारिक क्रियाओ से लेशमात्र भी प्रयोजन नहीं, फिर भी भगवद्भक्ति के सम्पादन मे वे त्रिविध क्रियाएँ करते है। पर सांख्य और वेदान्त के स्वाध्याय एव मनोधर्म मे लगे हुए मायावादी सन्यासी भगवद्भक्ति का आस्वादन नही कर पाते। उनका अध्ययन अत्यन्त श्रमावह हो जाता है, इसलिए कभी-कभी ब्रह्मविषयक मनोधर्मी से श्रान्त, भ्रान्त एव क्लान्त होकर पर्याप्त बोध के बिना ही वे श्रीमद्भागवत का आश्रय ग्रहण कर लेते है। इस कारण उनके लिए श्रीमद्भागवत का अध्ययन भी क्लेशप्रद है। मायावादी संन्यासियों का शुष्क मनोधर्म तथा वाग्चातुर्य उनके लिए बिल्कुल

निरर्थक सिद्ध होता है। दूसरी ओर, भगवद्भक्ति-परायण वैष्णव संन्यासी अपने दिव्य कर्तव्यों के पालन में सुखानुभूति करते है और यह भी निश्चित रहता है कि अन्त में उन्हें भगवद्धाम की प्राप्ति हो जायगी। मायावादी संन्यासी तो कभी-कभी आत्मतत्त्व के मार्ग से भ्रष्ट होकर समाजसेवा, परोपकार आदि प्राकृत क्रियाओं में ही फिर प्रवृत्त हो जाते हैं। अत. सारांश मे कृष्णभावनाभावितभक्त केवल ब्रह्मपरक मनोधर्म करने वाले सन्यासियों से श्रेष्ठ हैं, यद्यपि इन्हें भी बहु जन्मान्तरों के पश्चात् कृष्णभावनामृत की प्राप्ति हो जाती है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

अनुवाद

जो शुद्ध अन्त.करण, आत्मसंयमी तथा जितेन्द्रिय पुरुष भक्तिभाव से कर्म करता है, वह सब प्राणियों को प्रिय होता है उसे भी सब प्राणी प्रिय होते है। नित्य कर्म करते हुए भी वह कभी नही बँधता।।७।।

तात्पर्य

कृष्णभावना के साधन से मुक्तिपथ का पथिक प्राणीमात्र का अतिशय प्रेमपात्र है और उसे भी प्राणीमात्र प्रिय होता है। इसका कारण उसकी कृष्णभावना है। ऐसा व्यक्ति किसी भी प्राणी को श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित नहीं समझ सकता, उसी भाँति जैसे वृक्ष के पत्ते-शाखा आदि वृक्ष से अलग नही होते। वह भलीभाँति जानता है कि तरुमूल को जल द्वारा सीचने से जल सम्पूर्ण पत्तों और शाखाओं में वितरित हो जायगा, जैसे भोजन द्वारा उदरपर्ति करने से सम्पूर्ण शरीर में शक्ति का सचार हो जाता है। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला प्राणीमात्र की सेवा में निष्ठ रहता है, इसलिए सर्वप्रिय हो जाता है। वह शुद्धमति भी है, क्योंकि उसके कार्य से सभी का परितोषण होता है। शुद्धमति के प्रभाव से उसका चित्त पूर्णतया संयमित रहता है, जिसके परिणाम मे इन्द्रियाँ भी संयमित हो जाती है। उसका चित्त सदा श्रीकृष्ण पर केन्द्रित रहता है। अत. उसके लिए श्रीकृष्ण से विचलित होने की कोई सम्भावना नही और न ही उसकी इन्द्रियाँ भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य विषय मे प्रवृत्त हो सकती हैं। श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित विषयों का श्रवण उसे अप्रिय होता है, वह ऐसा कोई भी पदार्थ खाना नही चाहता, जो श्रीकृष्ण को अर्पित न किया गया हो। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध बिना वह कही जाना भी नहीं चाहता। इस प्रकार उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती है। ऐसा जितेन्द्रिय पुरुष किसी का अपराध नहीं कर सकता। इस पर यह जिज्ञासा हो

सकती है कि तब अर्जुन ने (युद्ध मे) शत्रु पर प्रत्याघात क्यों किया? क्या वह कृष्णभावनाभावित नही था? वस्तुत अर्जुन तो केवल बाह्यरूप से आक्रमण कर रहा था, क्योकि जैसा द्वितीय अध्याय मे कहा जा चुका है, आत्मा की अवध्यता के कारण युद्धस्थल मे इकट्ठे हुए सब योद्धाओ का अपना निजी स्वरूप सदा बना रहेगा। अतएव आत्मा की दृष्टि से तो कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में किसी की भी मृत्यु नही हुई। श्रीकृष्ण के आज्ञानुसार, (जो वहाँ स्वयं विराजमान थे) केवल उनके देहरूपी परिधान को बदला गया। कुरुक्षेत्र में युद्ध करते हुए भी अर्जुन वास्तव मे युद्ध नहीं कर रहा था। उसने तो बस पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर श्रीकृष्ण की आज्ञा का केवल पालन किया। ऐसे पुरुष को कभी कर्मबन्धन नही होता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

अनुवाद

बुद्धियोग से युक्त पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, जाते, सोते तथा श्वास लेने में प्रवृत्त होते हुए भी अपने अन्तर में यही मानता है कि वास्तव में वह कुछ भी नही करता, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, और नेत्रों को खोलते-मीचते हुए भी वह निरन्तर जानता है कि इन्द्रियाँ ही अपने विषयो मे प्रवृत्त हो रही है और वह उनसे पृथक् है।।८-९।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

अनुवाद

श्रीभगवान् मे कर्मफल का समर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर स्वधर्म का आचरण करने वाला पाप से लिपायमान नहीं होता, उसी भाँति जैसे जल में रहने पर भी कमलपत्र का जल स्पर्श नही करता।।१०।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

अनुवाद

योगीजन आसक्ति को त्यागकर शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा भी केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है।।११।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण की इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि अथवा इन्द्रियों द्वारा किया गया कृष्णभावनाभावित कर्म प्राकृत विकारों से मुक्त है। कृष्णभावनाभावित पुरुष की क्रियाओं का कोई लौकिक फल नही होता। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने पर सदाचार सुगमता से सम्पन्न हो जाता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण ने 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।।

शरीर, मन, बुद्धि तथा वाणी से निरन्तर कृष्णभावनाभावित कर्म (श्रीकृष्णसेवा) परायण महात्मा प्राकृत क्रियाओं में सलग्न प्रतीत होने पर भी वास्तव मे इस प्राकृत जगत मे भी जीवन्मुक्त है। उसमे मिथ्या अहकार नहीं रहता। वह इस प्राकृत देह में अहता-ममता नही रखता। उसे बोध हो जाता है कि स्वरूप स वह इस देह से भिन्न है और यह देह भी उसकी नही है। उसके तथा उसकी देह के श्रीकृष्ण ही एकमात्र स्वामी है। देह, मन, बुद्धि, वाणी, जीवन, धन, आदि सम्पूर्ण स्वत्व को श्रीकृष्णसेवा मे समर्पित करने पर वह तत्क्षण श्रीकृष्ण से युक्त हो जाता है। श्रीकृष्ण में तन्मय पुरुष देह में आत्मबुद्धि करने वाले मिथ्या अहकार से मुक्त रहता है। यही कृष्णभावना की पूर्णावस्था है।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तां निबध्यते।।१२।।

अनुवाद

निश्चल भक्त मेरे प्रति सम्पूर्ण कर्मफल का अर्पण करके अचल शान्ति को प्राप्त हा जाता है, और जो मुझ से युक्त नही है, वह कर्मफल की कामना से बँधता है।।१२।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित पुरुष और देह को अपना स्वरूप समझने वाले में भेद बस इतना ही है कि कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण मे आसक्त रहता है, जबकि शरीरबद्ध व्यक्ति अपने कर्मों के फल में आसक्त होता है। जो मनुष्य श्रीकृष्ण में

आसक्त है और श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए ही कर्म करता है, वह निश्चित रूप से जीवन्मुक्त है क्योंकि उसे कर्मफल की कामना नहीं है। श्रीमद्भागवत में परतत्त्व के ज्ञान के बिना अथवा द्वैत-धारणा के साथ कर्म करने को कर्मफल के लिए होने वाले उद्वेग का कारण बताया है। श्रीकृष्ण परम अद्वय तत्त्व भगवान् हैं। अतएव कृष्णभावना द्वैत से मुक्त हैं। जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ कृष्णशक्ति का कार्य है तथा श्रीकृष्ण सर्वमंगलमय हैं। अत. कृष्णभावनाभावित क्रियाएँ ब्रह्ममयी हैं; दिव्य होने के कारण उनसे बन्धन नही होता। इस कारण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर जीव शान्ति से आपूरित हो जाता है। परन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए फल का अभिलाषी उस शान्ति को प्राप्त नही कर सकता। यही कृष्णभावनामृत का रहस्य है—श्रीकृष्ण से सम्बन्धरहित कुछ भी सत्ता नहीं है, इस अनुभूति से परम शान्ति और अभय पद की प्राप्ति होती है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

अनुवाद

जब शरीरबद्ध जीवात्मा अपनी प्रकृति का सयम करके मन से सब कर्मों का त्याग कर देता है, तब वह नौ द्वार वाले नगर (प्राकृत देह) में कुछ भी करते अथवा करवाते बिना सुख से रहता है।।१३।।

तात्पर्य

देहबद्ध जीवात्मा नौ द्वार वाली पुरी का निवासी है। देहरूपी नगरी के कार्य प्राकृतिक गुणों द्वारा स्वयमेव होते रहते है। अपने आप देह की परिस्थितियों के आधीन हुआ जीव इच्छा होने पर इनसे मुक्त भी हो सकता है। अपने दिव्य स्वरूप की विस्मृतिवश ही वह अपने को प्राकृत देह मान बैठता है और परिणाम मे दु ख भोगता है। कृष्णभावनामृत से यथार्थ स्वरूप को फिर प्राप्त करके वह देह के बन्धन से मुक्त हो सकता है। वास्तव में कृष्णभावना धारण करते ही जीव तत्क्षण सब शारीरिक क्रियाओ से सर्वथा असंग हो जाता है। इस प्रकार के मर्यादित जीवन के प्रभाव से उसके चिन्तन में भी परिवर्तन आ जाता है जिससे वह नौ द्वार वाली पुरी मे सुखपूर्वक निवास करता है। नौ द्वार ये है—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।

'जीवात्मा की देह में निवास करने वाले श्रीभगवान् ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों

के स्वामी हैं। देह के नौ द्वार हैं—दो नेत्र, दो नासाछिद्र, दो कर्ण, मुख, गुदा तथा उपस्थ। बद्धावस्था में जीव अपने को देह समझता है; किन्तु जब उसे अन्तर्यामी भगवान् और अपने में सादृश्य का बोध होता है, तो देहस्थ होने पर भी वह श्रीभगवान् के समान ही मुक्त हो जाता है।' (श्वेत ३१८)

अतएव कृष्णभावनाभावित पुरुष प्राकृत देह की बाह्य-आंतरिक, दोनों ही प्रकार की क्रियाओ से मुक्त है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

अनुवाद

देहरूपी नगरी का स्वामी देहबद्ध जीवात्मा कर्म अथवा कर्मफल को नहीं रचता और न ही किसी को कर्म में प्रवृत्त करता है। यह सब तो प्रकृति के गुणों का ही कार्य है।।१४।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् किसी के भी पाप पुण्य को ग्रहण नही करते, जीवों के ज्ञान को अज्ञान ने ढक रखा है, इसी से वे मोह को प्राप्त हो रहे हैं।।१५।।

तात्पर्य

विभु शब्द का अर्थ परमेश्वर श्रीकृष्ण से है, जो अनन्त ज्ञान, श्री, वीर्य, यश, रूप तथा त्याग से युक्त हैं। वे सदा आत्मतृप्त हैं, पाप-पुण्य से उद्वेलित नही होते। किसी के लिए किसी विशिष्ट परिस्थिति का सृजन वे नहीं करते। अज्ञान से विमोहित जीवात्मा ही जीवन की विशिष्ट परिस्थितियो की कामना करता है, जिससे कर्म तथा कर्मफल की शृंखला चल पड़ती है। परा प्रकृति का अंश होने से जीव वास्तव में ज्ञानमय है। फिर भी अल्प सामर्थ्यवश वह अज्ञानमग्न हो जाता है। श्रीभगवान् सर्वसमर्थ हैं, परन्तु जीव नहीं। श्रीभगवान् विभु हैं, जबकि जीव अणु है। जीवात्मा को इच्छा करने की स्वतन्त्रता तो प्राप्त है, परन्तु उसकी पूर्ति करना केवल सर्वसमर्थ श्रीभगवान् के हाथ में है। अतः जब इच्छाओं से जीव विमोहित हो जाता है, तो श्रीभगवान् उसे अपनी इच्छा-पूर्ति करने देते हैं; पर किसी भी अभिलाषित परिस्थिति के कर्म और कर्मफल के लिए वे स्वयं उत्तरदाता नहीं हैं। इस प्रकार मोह के वशीभूत

हुआ बद्धजीव प्रासंगिक प्राकृत देह को अपना स्वरूप समझ कर जीवन के क्षणिक दु:ख-सुख भोगता है। परमात्मा के रूप में श्रीभगवान् जीव के नित्य सहचर हैं। वे जीवात्मा की इच्छा जान सकते हैं, उसी भाँति जैसे समीपवर्ती पुष्प की सौरभ को सूंघा जा सकता है। वासना जीवात्मा के बन्धन का सूक्ष्म रूप है। श्रीभगवान् उसकी कामना को यथायोग्य पूरा करते हैं। स्वयं अपनी इच्छा को पूर्ण करने की शक्ति का जीव में अभाव है; परन्तु श्रीभगवान् सर्वसमर्थ वाञ्छाकल्पतरु हैं। प्राणीमात्र में उनका समभाव है, इसलिए अणु स्वतन्त्रता वाले जीवों की इच्छाओं में वे हस्तक्षेप नहीं करते। विशेष रूप से जब कोई स्वयं श्रीकृष्ण की इच्छा करता है तो वे विशेष ध्यान देते हैं और उसे इस प्रकार प्रोत्साहित करते हैं कि वह उन्हें प्राप्त हो कर शाश्वत् सुख का आस्वादन कर सके। वैदिक मन्त्रों का उद्घोष है

एष उह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते।
एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते।।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत स्वर्गं वाश्वभ्रमेव च।।

'जीव के उत्थान के लिए श्रीभगवान् उसे सत्कर्म में प्रवृत्त करते हैं और असत्कर्म में इसलिए लगाते हैं, जिससे वह नरकगामी हो। जीवात्मा अपने सुख-दु:ख में पूर्णतया परतन्त्र है। वायुप्रेरित मेघ की भाँति भगवत्-इच्छा से ही वह स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।'

अस्तु, कृष्णभावनामृत की उपेक्षा करने की अपनी अनादिकालीन प्रवृत्ति के कारण बद्धजीव अपने बन्धन का स्वय कारण बनता है। स्वभावत· सच्चिदानन्दमय होते हुए भी अपनी बद्ध, अल्प सत्ता के कारण वह यह भूल जाता है कि स्वरूप से वह भगवान् का दास है और परिणाम में मायाबद्ध हो जाता है। अज्ञान-आवरण के वश में ही जीव ऐसा कहता है कि उसके भवबन्धन के लिए श्रीभगवान् उत्तरदायी है। वेदान्त से यह समर्थित है

वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।

'प्रभु वास्तव मे किसी के भी प्रति घृणा अथवा आसक्तिभाव नहीं रखते।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम।।१६।।

अनुवाद

परन्तु जब जीव अज्ञान का नाश करने वाले ज्ञान से प्रबुद्ध हो जाता है, तो उसका वह ज्ञान सम्पूर्ण तत्त्व को उसी प्रकार प्रकट कर देता है, जैसे दिन मे सूर्य सब कुछ प्रकाशित करता है।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण को भूल बैठने वाले अवश्य मोहित होते है। इसके विपरीत, कृष्णभावनाभावित पुरुष कभी मोहित नहीं हो सकते। भगवद्गीता (चतुर्थ अध्याय) मे उल्लेख है **सर्वं ज्ञानप्लवेन, ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि** तथा **न हि ज्ञानेन सदृशं।** ज्ञान सदा परम सम्मान्य है। उस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? पूर्ण ज्ञान श्रीकृष्ण के चरणयुगल की शरण ग्रहण करने से ही होता है, जैसा सातवे अध्याय के उन्नीसवे श्लोक में कहा है **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।** अनेक-अनेक जन्मान्तरो के उपरान्त जब पूर्ण ज्ञानी श्रीकृष्ण के शरणागत होता है अथवा कृष्णभावनाभावित बन जाता है तो उसके प्रति समग्र तत्त्व प्रकट हो जाते है, उसी प्रकार जैसे दिन मे सूर्य सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाशित करता है। जीवात्मा कितने ही प्रकार से मोहित होता है। उदाहरणस्वरूप, जब वह धृष्टतापूर्वक अपने को भगवान् मान बैठता है तो माया के सब से भीषण पाश मे बँध जाता है। यदि जीव ईश्वर है तो वह मायामोहित कैसे हो सकता है ? यदि ऐसा सम्भव है तो माया श्रीभगवान् से गुरुतर सिद्ध हुई। यथार्थ ज्ञान कृष्णभावनाभावित महापुरुष से ही प्राप्य है। अतएव ऐसे यथार्थ सद्गुरु के शरणागत होकर कृष्णभावनामृत की शिक्षा को हृदयगम करे। जिस प्रकार भुवनभास्कर सूर्य अधकार का निवारण करता है, उसी भाँति सद्गुरु सम्पूर्ण अज्ञान को दूर कर सकते है। यह हो सकता है कि देह से अतीत आत्मतत्त्व को पूर्ण रूप से जानने वाला भी आत्मा तथा परमात्मा मे भेद न कर सके, पर भगवत्प्राप्त कृष्णभावनाभावित सद्गुरु की शरणागति से वह पूर्ण तत्त्वज्ञ हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि के सान्निध्य में ही श्रीभगवान् का और श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। श्रीभगवान् के प्रतिनिधि का उनके समान आदर किया जाता है, क्योंकि वे भगवत्-तत्त्व को जानते है, परन्तु वे स्वयं अपने को भगवान् कभी घोषित नही करते। श्रीभगवान् और जीव मे भेद का ज्ञान आवश्यक है। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वितीय अध्याय (२ १२) मे कहा है कि प्रत्येक जीव का और उन (श्रीभगवान्) का अपना-अपना स्वरूप है। पूर्वकाल मे भी उनका पृथक् स्वरूप था, वर्तमान मे भी है और भविष्य मे मुक्ति हो जाने पर भी रहेगा। रात्रि के अधकार मे सब कुछ एकरूप भासता है; किन्तु उषाकाल मे सूर्योदय

होते ही प्रत्येक वस्तु अपने यथार्थ रूप में दृष्टिगोचर हो जाती है। जीव और भगवान् में अचिन्त्य-भेद-अभेद का ज्ञान ही सच्चा पारमार्थिक ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

अनुवाद

अपनी बुद्धि, चित्त और निष्ठा श्रीभगवान् मे केन्द्रित करके जब जीव उन्ही के परायण हो जाता है, तब वह पूर्ण ज्ञान द्वारा पाप और सशयो से शुद्ध होकर तत्काल मुक्तिपथ पर आरूढ हो जाता है।।१७।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

अनुवाद

यथार्थ ज्ञानी विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल मे समदर्शी होते है।।१८।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

अनुवाद

जिनका चित्त समता में स्थित है, उन्होंने इसी जीवन मे जन्म-मृत्यु आदि बन्धनो पर विजय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म के समान निर्दोष होने के कारण वे सदा ब्रह्म मे ही स्थित हैं।।१९।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

अनुवाद

जो न तो प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्षित होता और न अप्रिय की प्राप्ति होने पर उद्विग्न होता, जो मोहरहित स्थिरबुद्धि पुरुष भगवान् के तत्त्व को जानता है, उसे नित्य ब्रह्मतत्त्व में ही स्थित जानना चाहिए।।२०।।

तात्पर्य

इस श्लोक में आत्मतत्त्व के ज्ञाता महापुरुष के लक्षणों का उल्लेख है। उसका प्रथम लक्षण यह है कि वह मिथ्या देहात्मबुद्धि से मोहित नहीं होता। अपितु, भलीभाँति

जानता है कि वह प्राकृत देह नहीं है, वरन् श्रीभगवान् का भिन्न-अंश है। अतः देह सम्बन्धी किसी भी वस्तु की प्राप्ति में उसे हर्ष नहीं होता और न ही किसी वस्तु की हानि में वह शोकाकुल होता। मन की इस समता को स्थिरबुद्धि कहते हैं। अतः स्थूल देह को आत्मा समझने का भ्रम उसे कभी नहीं होता और न ही देह को नित्य मान कर वह आत्मा की उपेक्षा करता है। यही ज्ञान उसे ब्रह्म, परमात्मा तथा श्रीभगवान् नामक परतत्त्व के सम्पूर्ण विज्ञान में स्थित कर देता है। इस प्रकार, श्रीभगवान् से सर्वथा एक हो जाने के लिए मिथ्या प्रयत्न से मुक्त होकर वह अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जान जाता है। यही ब्रह्मानुभूति अथवा स्वरूप-साक्षात्कार है। ऐसी स्थिरमति (चेतना) ही कृष्णभावना कहलाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

अनुवाद

ऐसा मुक्त पुरुष इन्द्रियसुख अथवा बाह्य विषयों में अनासक्त होकर अपने स्वरूप में आनन्द अनुभव करता हुआ नित्य समाधिस्थ रहता है। इस प्रकार श्रीभगवान् में एकाग्र होकर स्वरूपप्राप्त पुरुष अनन्त सुख का आस्वादन करता है।।२१।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! ये जो इन्द्रियो और विषयों से उत्पन्न होने वाले भोग है, वे केवल दुःख के कारण है और आदि-अन्त वाले हैं। इसलिए विवेकी पुरुष उनमें नही रमता।।२२।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

अनुवाद

जो मनुष्य शरीर का नाश होने से पूर्व इन्द्रियों की उत्तेजना और काम-क्रोध के वेगों को सहन कर सकता है, वह इस संसार में योगी है और वही सुखी है।।२३।।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

अनुवाद

जो आत्मा में सुख का अनुभव करता है, आत्मा में क्रियाशील है और आत्मा में ही दृष्टि वाला है, वही यथार्थ में संसिद्ध योगी है और अन्त में परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

अनुवाद

जो द्वैत तथा संशय से मुक्त हो चुके हैं, जिनका चित्त आत्मपरायण है, जो सम्पूर्ण पापों से रहित हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण में सलग्न हैं, वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं।।२५।।

तात्पर्य

एकमात्र पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष को ही जीवमात्र के कल्याणकार्य में संलग्न कहा जा सकता है। जो मनुष्य तत्त्व से जानता है कि श्रीकृष्ण सबके आदिकारण हैं और इसी भावना से भावित होकर कर्म करता है, वह सबका कल्याण-कार्य करता है। मानवता के दुःखो का कारण यह भूल जाना है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता, परम ईश्वर और सबके परम सुहृद हैं। अत. पूरे मानवीय समाज में इस भावना के पुनर्जागरण के लिए कर्म करना परमोच्च कल्याणकार्य है। एक मुक्तपुरुष ही उत्तम कल्याण-कार्य कर सकता है। कृष्णभावनाभवित पुरुष को श्रीकृष्ण की परात्परता में लेशमात्र संशय नहीं रहता। पूर्ण पापमुक्त हो जाने के कारण उसमें सशय का अभाव हो जाता है। यह दिव्य भगवत्प्रेम की अवस्था है।

जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही लगा हुआ है, वह यथार्थ में किसी की भी सहायता नहीं करता। देह और चित्त को दिया गया क्षणिक सुख सन्तोषकारी नहीं कहा जा सकता। जीवन-संघर्ष में आने वाली भीषण कठिनाइयों का यथार्थ कारण तो जीव का श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाना ही है। जिस मनुष्य को श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का बोध हो जाता है वह संसार रूपी सराय में रहता हुआ भी वास्तव में जीवन्मुक्त है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

अनुवाद

जो काम-क्रोध से मुक्त है, आत्मस्वरूप को जानते हैं, आत्मसयमी है और ससिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्हें सब ओर से परमगति प्राप्त है।।२६।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अनुवाद

सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों को बाहर ही त्याग कर, दृष्टि को भृकुटी के मध्य में केन्द्रित रखते हुए नासिका मे विचरने वाले प्राणापान को रोक कर चित्त, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करने वाला योगी इच्छा, भय और क्रोध से पूर्ण मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में निरन्तर रहने वाला निस्सन्देह जीवन्मुक्त है।।२७-२८।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

अनुवाद

मुझे सम्पूर्ण यज्ञ-तप का परम प्रयोजन (भोक्ता), सम्पूर्ण लोको और देवताओ का परमेश्वर तथा प्राणीमात्र का सुहृद जानकर ऋषिजन ससार के दु:खो से शान्ति-लाभ करते है।।२९।।

तात्पर्य

माया के आधीन सभी बद्धजीव प्राकत-जगत् मे शान्ति के लिए आतुर है, परन्तु भगवद्गीता के इस श्लोक में वर्णित शान्ति-लाभ की यथार्थ-विधि को वे नहीं जानते। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं के भोक्ता है—यह ज्ञान परम-शान्ति का सरल मार्ग है। इसके अतिरिक्त, वे ही सम्पूर्ण लोकों तथा उनमे स्थित देवताओं के परमेश्वर हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि अपना सर्वस्व उन्हीं की दिव्य सेवा में समर्पित कर दें। उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं। वे देवाधिदेव शिव-ब्रह्मा आदि से भी महान् हैं। वेदों मे परमेश्वर श्रीकृष्ण का यह वर्णन है: **तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्** माया-मोहवश जहाँ दृष्टि जाती है, जीव वही अपना

प्रभुत्व करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु वास्तव मे वे सब भगवान् की माया के आधीन हैं। भगवान् श्रीकृष्ण माया के स्वामी है, जबकि जीव माया कठोर नियमों के परवश हैं। इस नितान्त सत्य को जाने बिना व्यक्तिगत अथवा संयुक्त रूप से भी ससार में शान्ति की उपलब्धि कभी नही हो सकती। कृष्णभावनामृत का भाव यह है भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर है, और देवताओं सहित सारे जीव उनके अनुचर है। इस पूर्ण कृष्णभावनामृत मे ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

पॉचवें अध्याय में कृष्णभावनामृत का व्यावहारिक (क्रियात्मक) निरूपण है, जेसे सामान्यत कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग मुक्तिकारक कैसे हो सकता है ?—इस मनोधर्मप्रेरित प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया गया है। कृष्णभावनाभावित कर्म करना इस पूर्ण ज्ञान से युवत होकर कर्म करना है कि श्रीकृष्ण परम ईश्वर है। ऐसे कर्म में और ज्ञान मे भेद नही है। कृष्णभावनामृत साक्षात् भवितयोग है, जबकि ज्ञानयोग भक्तियोग की प्राप्ति का केवल एक पथ है। कृष्णभावनामृत का अर्थ परमसत्य से अपने सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान के साथ कर्म करना है; इस भावना की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण रूप से जानने मे है। शुद्ध आत्मा भगवान् के भिन्न-अश के रूप मे उनका नित्य दास है। माया पर प्रभुत्व की इच्छा के कारण ही वह माया के ससर्ग मे आता है। यही उसे प्राप्त होने वाले नाना दु खो का कारण भी है। जब तक वह प्रकृति के ससर्ग मे रहता है, तब तक प्राकृत आवश्यकता के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य है। किन्तु कृष्णभावनामृत की यह विशेषता है कि जड प्रकृति की परिधि में स्थित जीव को भी वह दिव्य जीवन प्रदान कर सकती है, क्योकि प्राकृत-जगत् मे भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुन उद्‌भावित हो जाना है। भक्ति मे उत्तरोत्तर प्रगति करने के अनुपात मे प्रकृति-बन्धन से मुक्ति होती जाती है। श्रीभगवान् किसी जीव से पक्षपात नही करते। सब कुछ इन्द्रियनिग्रह और काम-क्रोध का दमन करने के लिए किए गए व्यावहारिक कर्तव्य-पालन पर निर्भर करता है। इन विकारो को निगृहीत कर कृष्णभावनामृत को प्राप्त हो जाने वाला वास्तव मे शुद्ध सत्त्व, ब्रह्मनिर्वाण में परिनिष्ठित हो जाता है अष्टागयोग का अन्तिम लक्ष्य कृष्णभावना को प्राप्त करना ही है। अतएव साक्षात् कृष्णभावनामृत मे अष्टागयोग का अभ्यास अपने-आप हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है। परन्तु भक्तियोग के प्रारम्भ मे ही इन सब की सिद्धि हो जाती है। एकमात्र भक्तियोग मानव को शान्ति प्रदान कर सकता है। वास्तव मे भक्तियोग ही जीवन की परमोच्च संसिद्धि है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः।।५।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचमोऽध्यायः।।